राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

राजस्थान राज्य द्वारा प्रकाशित

सामान्यत: अखिल भारतीय तथा विशेषत: राजस्थानदेशीय पुरातनकालीन
संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी, हिन्दी आदि भाषानिबद्ध
विविध वाङ्मयप्रकाशिनी विशिष्ट ग्रन्थावलि

प्रधान सम्पादक

पुरातत्त्वाचार्य जिनविजय मुनि

[ऑनरेरि मेम्बर ऑफ जर्मन ओरिएन्टल सोसाइटी, जर्मनी]

सम्मान्य सदस्य

भाण्डारकर प्राच्यविद्या संशोधन मन्दिर, पूना; गुजरात साहित्य-सभा, अहमदाबाद;
विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध-संस्थान, होशियारपुर; निवृत्त सम्मान्य नियामक–
(आनरेरि डायरेक्टर), भारतीय विद्याभवन, बम्बई

ग्रन्थाङ्क २३

महामहोपाध्याय पं० दुर्गाप्रसादद्विवेदविरचितं

दशकण्ठवधम्

नाम रामचरितम्

स्वोपज्ञसाधुशुद्धिटीकासमन्वितम्

प्रकाशक

राजस्थान राज्याज्ञानुसार

सञ्चालक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

जोधपुर (राजस्थान)

महामहोपाध्याय पं० दुर्गाप्रसादद्विवेदविरचितं

दशकण्ठवधम्

नाम रामचरितम्

स्वोपज्ञसाधुशुद्धिटीकासमन्वितम्

सम्पादक

श्री गङ्गाधर द्विवेदी

साहित्याचार्य, व्याकरणतीर्थ, विद्यारत्न

व्याख्याता, महाराज-संस्कृत-कॉलेज, जयपुर

प्रकाशनकर्त्ता

राजस्थान राज्याज्ञानुसार

सञ्चालक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

जोधपुर (राजस्थान)

विक्रमाब्द २०१७
प्रथमावृत्ति १०००

भारतराष्ट्रीय शकाब्द १८८२

खिस्ताब्द १९६०
मूल्य ४.००

मुद्रक—मूल पाठ, पृ० १ से १४० प्रभात प्रेस, जयपुर; पृ० १४१ से १५६ अजन्ता प्रिन्टर्स, जयपुर और शेष सामग्री साधना प्रेस, जोधपुर ।

राजस्थान पुरातन ग्रन्थ-माला

प्रधान सम्पादक—पुरातत्त्वाचार्य मुनि श्री जिनविजयजी

++++++++++

प्रकाशित ग्रन्थ

१—संस्कृत ग्रन्थ

१. प्रमाणमंजरी, तार्किकचूड़ामणि सर्वदेवाचार्य, सम्पादक—मीमांसान्यायकेसरी पं० पट्टाभिरामशास्त्री, विद्यासागर। मूल्य—६.००

२. यन्त्रराजरचना, महाराजा-सवाई-जयसिंह-कारित। सम्पादक—स्व० पं० केदारनाथ, ज्योतिर्वित्। मूल्य—१.७५

३. महर्षिकुलवैभवम्, स्व० पं० मधुसूदन ओझाप्रणीत, सम्पादक—म०म० पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी। मूल्य—१०.७५

४. तर्कसंग्रह, अन्नंभट्ट, सम्पादक—डॉ० जितेन्द्र जेटली, एम. ए., पी-एच. डी., मूल्य—३.००

५. कारकसंबंधोद्योत, पं० रभसनन्दी, सम्पादक—डॉ. हरिप्रसाद शास्त्री, एम. ए., पी. एच-डी., मूल्य—१.७५

६. वृत्तिदीपिका, मौनिकृष्ण-भट्ट, सम्पादक—पं० पुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी, साहित्याचार्य। मूल्य—२.००

७. शब्दरत्नप्रदीप, अज्ञात कर्तृक, सम्पादक—डॉ. हरिप्रसादशास्त्री, एम. ए., पी-एच. डी.। मूल्य—२.००

८. कृष्णगीति, कवि-सोमनाथ, सम्पादिका—डॉ. प्रियबाला शाह, एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट्। मूल्य—१.७५

९ नृत्तसंग्रह, अज्ञातकर्तृक, सम्पादिका—डॉ. प्रियबाला शाह, एम. ए., पी-एच डी., डी. लिट्। मूल्य—१.७५

१०. शृङ्गारहारावली, श्री हर्ष-कवि-रचित, सम्पादिका—डॉ. प्रियबाला शाह, एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट्। मूल्य—२.७५

११. राजविनोद महाकाव्य, महाकवि-उदयराज, सम्पादक—पं. श्री गोपालनारायण बहुरा, एम. ए., उप-सञ्चालक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर। मूल्य—२.२५

१२. चक्रपाणिविजयमहाकाव्य, भट्ट लक्ष्मीधर विरचित, सम्पादक—केशवराम काशीराम शास्त्री। मूल्य—३.५०

१३. नृत्यरत्नकोश (प्रथम भाग), महाराणा कुम्भकर्ण रचित, सम्पादक—प्रो. रसिकलाल छोटालाल पारीख तथा डॉ० प्रियबाला शाह, एम. ए, पी-एच. डी., डी. लिट्। मूल्य—३.७५

१४. उक्तिरत्नाकर, साधुसुन्दर-गणी-विरचित, सम्पादक—पुरातत्त्वाचार्य श्री जिनविजय मुनि। सम्मान्य संचालक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर। मूल्य—४.७५

१५. दुर्गापुष्पाञ्जलि, म०म० पं० दुर्गाप्रसाद द्विवेदीकृत, सम्पादक—पं० गङ्गाधर द्विवेदी, साहित्याचार्य। मूल्य—४.२५

१६. कर्णकुतूहल, महाकवि भोलानाथ विरचित, सम्पादक–पं० श्री गोपालनारायण बहुरा, एम. ए., उप–सञ्चालक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर। इसी ग्रंथकार की अपर कृति 'श्रीकृष्णलीलामृत' सहित। मूल्य–१.५०

१७. ईश्वरविलास–महाकाव्य, कविकलानिधि श्रीकृष्ण भट्ट विरचित, सम्पादक–श्री मथुरानाथ शास्त्री, साहित्याचार्य, जयपुर। मूल्य–११.५०

१८. रसदीर्घिका, कवि विद्याराम प्रणीत, सम्पादक–पं०श्री गोपालनारायण बहुरा, उप-सञ्चालक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर। मूल्य–२.००

१९. पद्यमुक्तावली, कविकलानिधि कृष्ण भट्ट, सम्पादक–पं० श्री मथुरानाथ शास्त्री, साहित्याचार्य। मूल्य–४.००

२०. काव्यप्रकाशसंकेत, सोमेश्वर भट्ट कृत, सम्पादक–श्री रसिकलाल छो० परीख भाग १ मूल्य–१२.००

२१. ,, ,, ,, भाग २ मूल्य– ८.२५

२२. वस्तुरत्नकोश, अज्ञात कर्तृक, सम्पादिका–डॉ. प्रियबाला शाह। मूल्य–४.००

२३. दशकण्ठवधम्, पं० दुर्गाप्रसाद द्विवेदी कृत, सम्पादक पं० गङ्गाधर द्विवेदी, मूल्य–४.००

२–राजस्थानी और हिन्दी ग्रन्थ

१. कान्हड़दे प्रबन्ध, महाकवि पद्मनाभ रचित, सम्पादक–प्रो. के. बी. व्यास, एम. ए.। मूल्य–१२.२५

२. क्यामखां रासा, कविवर जान रचित, सम्पादक–डॉ. दशरथ शर्मा और श्री अगरचन्द भंवरलाल नाहटा। मूल्य–४.७५

३. लावारासा, चारण कविया गोपालदानविरचित, सम्पादक–श्री महताबचन्द खारैड़। मूल्य–३.७५

४. वांकीदासरी ख्यात, कविवर बांकीदास, सम्पादक–श्री नरोत्तमदास स्वामी, एम. ए.। मूल्य–५.५०

५. राजस्थानी साहित्यसंग्रह, भाग १, सम्पादक–श्री नरोत्तमदास स्वामी, एम.ए.। मूल्य–२.२५

६. कवीन्द्रकल्पलता, कवीन्द्राचार्य सरस्वती विरचित, सम्पादक–श्रीमती रानी लक्ष्मीकुमारी चूंडावत। मूल्य–२.००

७. जुगलविलास, महाराजा पृथ्वीसिंह कृत, सम्पादिका–श्रीमती रानी लक्ष्मीकुमारी चूंडावत। मूल्य–१.७५

८. भगतमाळ, ब्रह्मदासजी चारण कृत, सम्पादक–उदैराजजी उज्ज्वल मूल्य–१.७५

९. राजस्थान पुरातत्त्व मन्दिरके हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची—भाग १ मूल्य–७.५०

१०. राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान की सूची भाग २ मूल्य–१२.००

११. मुंहता नैणसीरी ख्यात, भाग १, मुंहता नैणसी कृत, सम्पादक–श्री बदरीप्रसाद साकरिया मूल्य–८.५०

१२. रघुवरजसप्रकास, किसनाजी आढ़ा कृत, सम्पादक–श्री सीताराम लाळस मूल्य–८.२५

१३. राजस्थानी हस्तलिखित ग्रन्थोंकी सूची, भाग १, सम्पादक–श्री मुनि जिनविजय। मूल्य–४.५०

१४. वीरवांण, ढाढी बादर कृत, सम्पादिका–श्रीमती रानी लक्ष्मीकुमारी चूंडावत। मूल्य–४.५०

प्रेसों में छप रहे ग्रंथ

संस्कृत ग्रंथ

१. शकुनप्रदीप, लावण्य शर्मा रचित — सम्पादक—मुनि श्रीजिनविजयजी
२. त्रिपुरा भारती लघुस्तव, धर्माचार्य प्रणीत „ „ „
३. करुणामृतप्रपा, ठक्कुर सोमेश्वर-विनिर्मित „ „ „
४. बालशिक्षाव्याकरण, ठक्कुर संग्रामसिंह विरचित „ „ „
५. पदार्थरत्नमंजूषा, पं० कृष्ण मिश्र रचित „ „ „
६. वसन्तविलास फागु, अज्ञात कर्तृक „ एम. सी. मोदी
७. नन्दोपाख्यान, अज्ञात कर्तृक „ „ बी. जे. सांडेसरा
८. चांद्रव्याकरण, आचार्य चन्द्रगोमि विरचित „ श्री बी. डी. दोशी
९. वृत्तजातिसमुच्चय, कवि विरहाङ्क विनिर्मित „ „ एच. डी. वेलणकर
१०. कविदर्पण, अज्ञात कर्तृक „ „ „
११. स्वयम्भूछन्द, कवि स्वयम्भू विनिर्मित „ „ „
१२. प्राकृतानन्द, रघुनाथ कवि रचित „ मुनि श्री जिनविजयजी
१३. कविकौस्तुभ, पं० रघुनाथ विरचित „ श्री एम. एन. गोरी
१४. नृत्यरत्नकोश, भाग २, महाराणा कुंभा प्रणीत „ डॉ. प्रियबाला शाह
१५. भुवनेश्वरी स्तोत्र (सभाष्य), पृथ्वीधराचार्य रचित „ श्री गोपालनारायण बहुरा
१६. इन्द्रप्रस्थ प्रबन्ध „ डॉ. दशरथ शर्मा

२—राजस्थानी और हिन्दी ग्रन्थ

१७. मुंहता नैणसी री ख्यात, भाग २, नैणसी मुंहता सम्पादक—श्री बदरीप्रसाद साकरिया
१८. गोरा बादल पदमिणी चउपई, कवि हेमरतन विनिर्मित — सम्पादक—श्री उदयसिंह भटनागर
१९. राजस्थान में संस्कृत साहित्य की खोज
मूल लेखक श्री आर. एस. भण्डारकर — अनुवादक—श्री ब्रह्मदत्त त्रिवेदी।
२०. राठोड़ांरी वंशावली — सम्पादक—मुनि श्री जिनविजयजी
२१. सचित्र राजस्थानी भाषा-साहित्य ग्रन्थ-सूची „ „ „
२२. मीरां बृहत् पदावली „ विद्याभूषण स्व. पुरोहित हरिनारायणजी द्वारा संकलित
२३. राजस्थानी साहित्य संग्रह, भाग २ (देवजी बगड़ावत और प्रतापसिंह वार्ता आदि) — सम्पादक श्री पुरुषोत्तमलाल मेनारिया
२४. पुरोहित वगसीराम हीरां और अन्य वार्ताएं „ श्री लक्ष्मीनारायण गोस्वामी

इन ग्रन्थोंके अतिरिक्त अनेकानेक संस्कृत, राजस्थानी और हिन्दी भाषाके ग्रंथोंका संशोधन और सम्पादन किया जा रहा है।

'राजस्थान पुरातत्त्व' नामसे एक शोध-पत्र (जर्नल) निकालनेकी योजना भी विचाराधीन है।

सञ्चालकीय वक्तव्य

भारतीय साहित्यमें संस्कृत काव्य-ग्रन्थोंका विशेष महत्त्व है। यों तो अनेक संस्कृत काव्य-ग्रन्थ विद्वत्-समाजमें समादरणीय हैं किन्तु वाल्मीकि, भवभूति, हर्ष, माघ और कालिदास जैसे महाकवियोंके काव्योंकी सुख्याति देश-विदेशके समस्त काव्य-प्रेमियों तक प्रसृत हो चुकी है। यही नहीं, इनके काव्योंके देश-विदेशकी कई भाषाओंमें रूपान्तर और व्याख्यान भी प्रकाशित हो चुके हैं। संसारके प्रमुख देशोंमें, सर्वत्र ही संस्कृत-काव्यों और नाटकोंका अध्ययन-अध्यापन, सम्पादन-प्रकाशन और अभिनयादि-प्रवृत्तियाँ लोगों की विशेष रुचि से गतिशालिनी हैं।

राजस्थान प्रदेश भारतीय सभ्यता एवं विद्याका विशेष क्षेत्र रहा है। यहाँके अनेक शासक स्वयं रसिक साहित्य-प्रणेता और साहित्यकारोंके आश्रयदाता रहे हैं। राजस्थानी जनता भी विद्याभिरुचिमें किसीसे पीछे नहीं रही है। यही कारण है कि राजस्थानमें साहित्यिक सामग्री प्रचुर मात्रामें उपलब्ध होती है।

प्रस्तुत महाकाव्यके प्रणेता स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डित दुर्गाप्रसादजी द्विवेदी पूर्व जयपुर-राज्यके आश्रित थे। प्रगाढ़ पाण्डित्य एवं साहित्यिक प्रतिभाके लिए सरकारकी ओरसे उन्हें विशेष मान एवं प्रोत्साहन प्राप्त था। द्विवेदीजी कृत दशकण्ठवधम् (चम्पू) रामचरित्र-विषयक एक सरस काव्य-कृति है जिसका प्रकाशन विद्वत् समाजमें चिरप्रतीक्षित था। "राजस्थान पुरातन ग्रन्थ-माला" के २३वें ग्रन्थके रूपमें इस काव्यका प्रकाशन हो रहा है।

स्वर्गीय महामहोपाध्यायजी रचित एक और ग्रन्थ 'दुर्गा-पुष्पाञ्जलि' भी इस ग्रन्थमालामें प्रकाशित हो चुका है। इन दोनों ही ग्रन्थोंके सम्पादक ग्रन्थकारके पौत्र श्री गङ्गाधर द्विवेदी, साहित्याचार्य हैं। ग्रन्थकर्ताके जीवनवृत्त एवं रचनाएँ आदि विषयों पर 'दुर्गापुष्पाञ्जलि' के सम्पादकीय लेखमें पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है।

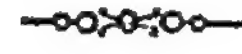
आशा है कि सस्कृत काव्य-प्रेमियोंमें इस कृतिका समुचित आदर होगा।

महा-शिवरात्रि, सं० २०१६ वि०
भारतीय विद्या भवन,
बम्बई

मुनि जिनविजय
सम्मान्य सञ्चालक
राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान,
जोधपुर

विषय-तालिका





महामहोपाध्यायपण्डितश्रीदुर्गाप्रसादद्विवेदविरचितम्

दशकण्ठवधम्

नाम

रामचरितम्

तदोंपदार्थस्य वरेण्यमेतकद् देवस्य भर्गः सवितुः प्रधीमहि ।
ब्रह्मादिरूपत्रितयोपसंहृतिर्यो नो धियः कर्मभुवि प्रचोदयात् ॥

साधुशुद्धिः ।

को मत्स्यादि निषेवितुं निविशते नानावतारान्तरे
को वा न्यूनतयावधारितमहस्याश्वासमायास्यति ।
शृङ्गारोदयदीपितोऽपि चरमे नालम्बते गौरवं
चेतः केवलमेकमेव मनुते श्रीरामभद्रं हरिम् ॥१॥

दशकण्ठवधं नाम चरितं रामवर्मणः ।
यत्र विन्यस्यते साधुशुद्धिर्लाभाय शर्मणः ॥२॥

एतदुच्छृङ्खलं ब्रह्मन् ! मनश्चेद् रावणायते ।
तदानीमिन्द्रियग्रामो दशकण्ठायते ध्रुवम् ॥३॥

दण्डान्वयक्रमेणात्र तथार्थान् प्रारभामहे ।
यथा न सज्जतेऽहन्ता संसारैकफले महे ॥४॥

इहामुत्रानुरक्तानां किमन्यद् वासनावहम् ।
उभयत्र विरक्तानां किमन्यद् वासनावहम् ॥५॥

अथ दशकण्ठवधाख्यरामचरितं प्रारिप्सुः-'मङ्गलाचरणं शिष्टाचारात् फलदर्शनात् श्रुतितश्चेति' सां० द० ५.१) इति प्रमाणयन् सच्चिदानन्दलक्षणं परमात्मानं परामृशति—

तदिति। ॐ पदार्थस्य प्रणवशब्दस्य। 'तस्य वाचकः प्रणवः' (यो० द० १.२७) इति पतञ्जलिः। अवतीति ओम्। अव रक्षणादौ। 'अवतेष्टिलोपश्च' इत्यौणादिको मन्। वेदितव्यं वेदनसाधनं च–'शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरस्तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम्' (यो० द० ३.१७)। तथा च गीतासु पठ्यते–'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' (८.१३) इति। शिवमहिम्नि–'समस्तं व्यस्तं त्वां शरणद ! गृणात्योमिति पदम्।' इति च। व्यस्तपक्षे–अकार उकारो मकार इति तदवयवाः। 'अकारं चाप्युकारं च मकारं च'–(मनु० २.७६) इति मनुः। दीव्यतीति देवः। पचाद्यच्। तस्य। सुवति प्रेरयतीति सविता। षू प्रेरणे। तृच्। तस्य। 'विश्वानि देव ! सवितः !' (शु० य० सं० ३०.३) इति श्रुत्यन्तरम्! तदेतकद्। 'अव्ययसर्वनाम्नामकच्प्राक्टेः' (पा० सू० ४.३.७१) इत्यकच्। तदिदं सकलान्तर्यामितया परोक्षापरोक्षमिति तत्त्वम्। वरेण्यम् अभ्यर्थनीयम्। भर्जते इति भर्गः तेजः। भृजी भर्जने। 'अञ्च्यञ्जियुजिभृजिभ्यः कुश्च' इत्यौणादिकोऽसुन्। प्रधीमहि सम्यग् ध्यायेम। ध्यै चिन्तायाम्। क्वचित्–'सत्यं परं धीमहि' (वि० भा० १.१.१) 'त्रियम्बकं संयमिनं ददर्श' (कुमा०सं०३.४४) इत्यादिवत् लोकेऽपि विशिष्टप्रतिपत्तये छान्दसप्रयोगः। अन्यथा–'ध्यायेम सत्यं परम्' यद्वा–'सत्यं परं मन्महे' इति–'त्रिलोचनं' किं वा–'त्रिचक्षुषं' इति च प्रयोजयेत्।

सर्वे वयमुपासकाः उक्तलक्षणं भर्गः संप्रज्ञातासंप्रज्ञातयोगाभ्यामाकलयेमहीति तात्पर्यम्। प्रवर्तनायां लिङ्। लिङ्वाच्यप्रवर्तनया प्रवृत्तिनिष्पत्तौ तु लडेव। अभेदवादे तु तदात्मतासमापत्त्या वयमितरैः प्रध्यायेमहीत्यप्यनुसंधेयम्।

आत्मा हि चिद्रूप एको विभुर्नित्यश्चास्ति। स्वयंप्रकाशत्वात् सजातीयादिभेदशून्यत्वात् सर्वगतत्वाद् अनाद्यनन्तत्वाद् यावद्भेदकजालस्य जडत्वाच्च। ततश्चैतन्यात्मनो विराट्शरीरत्वमव्याहतम्। तथा चोक्तम्–

'एकः स आत्मनासौ न हि क्रमोऽस्तीह देशकालाभ्याम्।
भेदिनि मिथः स युक्तश्चेत्ये भेदाश्रयः खलु सः॥'

(विरूपाक्षपञ्चा० २.१२)

इतरथा–

'उत्कम्प्य विश्वतोऽङ्गात् तद्भागैकतनुनिष्ठिताहन्तः।
कण्ठलुठत्प्राण इव व्यक्तं जीवन्मृतो लोकः॥'

(विरूपाक्षपञ्चा० १.५)

इति यथादर्शनभेदावमर्शनदुष्परिणामो व्यक्त एव। इतो वैशेषिकदर्शने प्रतिपत्तिसौकर्यार्थं चार्वाकादिमुखमुद्रणाय प्रथमभूमिकायामेवात्मा परीक्षित इति द्रष्टव्यम्। अन्यथायमन्तःकरणगुणसंपृक्तः कथमिव वर्ण्येत। श्रुति-स्मृतिषु युक्ति-प्रमाणाभ्यां निर्गुणत्वेन निरूपितत्वात्। समानतन्त्रे न्यायेऽपि प्राधान्येन कथक-कथैवावतारिता। अथवा-अस्तु बालानां सुखबोधायारम्भवाद इवान्तःकरणसंबन्धे-नात्मगुणवादः। मन्ये, सांख्यदर्शने द्वितीयभूमिकायामात्मा परीक्षित इति। यस्मात् 'असङ्गोऽयं पुरुषः' (सां० द० १.१५) इति सूत्रयता भगवता श्रुति-स्मृतिसिद्धा-न्तितमात्मनो निर्गुणत्वमेव प्रतिपादितम्। सुखावबोधाय लौकिकदृशा तु–

'जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव॥' (सां० का० १८) इति।

किमियता–'ईश्वरासिद्धेः' (सांख्यद० १.९२) इति सूत्रयतापि महामुनिना–

'एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥' (सां० का० ६४)

इति भावनया 'विज्ञानं ब्रह्मे'ति रहस्यमुन्मीलितमेव। समानतन्त्रे योगे तु 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' (यो० द० १. २४) इत्यादिना यथाप्रसङ्गं प्रणववाचकं वस्तूपक्षिप्तमेव। मीमांसयोस्तु धर्मब्रह्मोपासने उपबृंहयद्भ्यामपि जैमिनि-पाराशर्याभ्यां वेदपुरुषव्यपदेशेन चरमभूमिकाया-मात्मा सुपरीक्षित एव। इत्थंच–'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (वे० द० १.५) इत्यादिना परमाणुप्रकृतिवादादिनिरसनपुरःसर वेदवर्त्मना तर्क-सांख्य-योगपदार्थान् पश्य-द्भिरेकमेवात्मतत्त्वं निश्चेतव्यम्। अतएव–

'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान्॥
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥' (श्वेता० ६.१३)

इत्यादि श्रुतिसंवर्गेण क्वचिदभ्युपगमवादेन भिन्नप्रणालिकोऽपि तर्क-सांख्य-योगप्रवाहो वेदप्रणालिकयैव नीतो नेतव्यश्च विभावनीय इति दिक्।

ब्रह्मा कार्यब्रह्मा चतुराननादिपदव्यपदेश्यः आदिः प्रथमं येषां तेषामुत्पत्ति-स्थितिसंहारघटकानां रूपाणां त्रितयस्य त्रयस्य उपसंहृतिः उपसंहारोऽन्तर्भावो यस्मिन् सः। 'संख्याया अवयवे तयप्' (पा० सू० ५.२.४२)। श्रूयते च–

'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥' (श्वेता० ६.१८)

यः सविता अन्तर्यामी । नः अस्माकं प्रमातॄणाम् । धियः धीपदोपस्थाप्यान्तःकरण-तदधीनबुद्धिकर्मेन्द्रियाणि । कर्मभुवि-व्यवहारदशायाम् । प्रचोदयात् प्रेरयति । लडर्थे लेट् । तथा च-'व्यत्ययो बहुलम्' (पा० सू० ३.१.८५) इति वृत्तिभाष्यगतम्-

'सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च ।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि हि सिध्यति बाहुलकेन ॥' इति ।

तदुपबृंहणं 'क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव ।' इति बाहुलकविवरणं च यथाङ्गोपाङ्गगतिकं वेदवस्तूद्धर्तुमेव शरणं मन्तव्यं न पुनस्तन्नवनवं मनीषितं वर्त्म नेतुमिति । अन्यथा वेदगव्यां मातरि पुरुषायितं स्यात् । अत्र सवितुः भर्ग इति पुरुषस्य चैतन्यमितिवदभेदे षष्ठीति संक्षेपः । वंशस्थेन्द्रवंशयोरुपजातिः ॥१॥

इदानीं परमात्मनः प्रधानशक्तिकार्यं निर्दिशँस्तस्यान्वेष्टव्यत्वमादिशति-

ब्रह्मत्वमापादनरागरञ्जितो विष्णुत्वमाप्यायनकेलिकर्मठः ।
रुद्रत्वमादानकलावलम्बितो योऽभ्येति मायीव स साधु मृग्यताम् ॥२॥

ब्रह्मत्वमिति । यः अन्तर्यामी, माया अघटितघटनापटीयसी अस्यास्तीति मायी । व्रीह्यादित्वादिनिः । मायावी इव । अस्ति जायत इति बीजांकुरमर्यादया यद् आपादनं कार्यघटनं तत्र यो रागोऽनुरागः, तेन रञ्जितः अभिनिविष्टः सन् । ब्रह्मत्वं ब्रह्मभावम् । अभ्येति प्रयाति । विपरिणमते वर्धत इति यत् पल्लवादिरूपेण कार्यस्य आप्यायनं परिपोषणं तस्य या केलिः तदनुगुणनिभालनं तत्र कर्मठः कर्मशूरः सन् । विष्णुत्वं विष्णुदशाम् । अभ्येति प्राप्नोति । अपक्षीयते नश्यतीति पल्लवादिविस्फारसंकोचक्रमेण यद् आदानं कार्यस्य कारणाभिमुखीभवनं तस्य कलायां कलनाव्यापारे अवलम्बितः प्रतिष्ठितः सन् । रुद्रत्वं रुद्रावस्थाम् अभ्येति गच्छति । सः एकस्वभावोऽपि नामरूपप्रथया भिन्नभिन्न इव प्रतीयमानः । साधु सोद्योगम् । मृग्यताम् अन्विष्यताम् । मृग अन्वेषणे । कर्मणि लोट् ।

ब्रह्मजिज्ञासां प्रतिजानाना एकस्मादेव ब्रह्मणो जगतो जन्म-स्थिति-भङ्गमुपदिशन्ति । तत्रोत्थाप्याकाङ्क्षया हरिहरादिपदाक्षेपेण ब्रह्मजिज्ञासा नाकुलीकर्तव्या । श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसङ्गात् । यदि तथाभिप्रायोऽभविष्यत् तर्हि हरिहरादिष्वन्यत

पाठेनैवापठिष्यत्। तथा च–'तत्र निरतिशयं सार्वज्ञबीजम्' (यो० द० १.२५) इति सूत्रे योगवार्तिके–

"हरिहरादिसंज्ञामूर्तयस्तु शक्तिशक्तिमदाद्यभेदेनोपासनार्थमेव परमेश्वरस्योच्यन्ते न तु साक्षादेव।"

इतो माण्डूक्यादुपज्ञातो विराड्-हिरण्यगर्भ-प्राज्ञ-विभागोऽपि यथोत्तरं सारग्राही ब्रह्मण एकत्वमेव बोधयति। श्रुति-स्मृतिनीत्या आत्मब्रह्मेश्वराः पर्याया इति मनोहत्य मीमांसनीयम्। एतदभिधेयरूढानां शब्दानामैकमत्येऽपि जाति-गुण-क्रिया-यदृच्छासंश्लेषेण पार्थक्यम्। तत्र शरीरिणि भौतिकस्य शरीरांशस्य व्यपगम इव चिदैक्यामर्शानुमानानुभवाभ्यामेकत्वमेवोपपद्यते। अतएव भगवता पाराशर्येण पुराणेतिहासेषु पञ्चदेवोपास्तिमभिदधतापि पञ्चायतनीन्यायेन पर्यायात् पञ्चानामपि गौणमुख्यभावं वर्णयता तदेकतायामेवावस्थायि। अन्यथा तत्र मूढत्वारोपेणास्माभिरेव प्रत्यवेतव्यम्। इह हरिहरादिसहस्रनामस्वपि विशेषण-विशेष्यसंगत्या भेदकनाम्नां समवाये भेदः, अभेदकानां त्वभेद इत्यन्यत्र विस्तरः। इन्द्रवंशा वृत्तम् ॥२॥

इदानीं विशेषवर्तनशालिनि विवर्ते परिणामनयोगिनि परिणामे वा परमात्मन ऐश्वर्येष्ववतारावतंसमुपश्लोकयति–

बीजं धर्मद्रुमस्यावनिरुपनिषदामास्पदं दर्शनाना–
मास्थानं मङ्गलानामुपवनमतुलानन्दमाकन्दकानाम्।
स्फूर्जत्पीयूषवृष्टिः कलिकलुषकथाक्लेशसंतापभाजां
प्रत्याख्यानं रिपूणां चिरमवतु जगज्जानकीजानिरेकः ॥३॥

बीजमिति। पतन्तं जनमालम्बनीभूय धरतीति धर्मः। औणादिको मन्। तथा च श्रुतिः–

"धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति।
धर्मेण पापमपनुदन्ति, धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माद् धर्मं परमं वदन्ति॥" इति।
(तैत्ति० आर० १० प्रपा० ६३ अनु०)

तथा-'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' (मी० द० १.१.२) इति जैमिनिः। अयं हि फलदर्शनरूपेण–'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' (वै० द० १.१.२) इति कणादेनासूत्रि। सोऽयं प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणश्च। तत्र प्रथमः कल्पसूत्र-

गृह्यसूत्र-मन्वादिस्मृति-पुराणेतिहासेषु प्रतिपादितः । इह कल्पसूत्रादिपञ्चके यथोत्तरं दौर्बल्यमित्यनुसंधेयम् । द्वितीयस्तूपनिषद्-ब्रह्मसूत्र-स्मृति-पुराणेतिहासेषु निरूपितः । इह तु पञ्चके ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्ड-माण्डूक्य-तैत्तिरीय-छान्दोग्य-बृहदारण्यकैतरेय-श्वेताश्वतरकैवल्यादयः कतिपया एवोपनिषदो हृदयंगमाः । अन्यास्तु कालवशाद् बहुत्र संदिग्धा दृश्यन्ते । इयमेवावस्था मनुयाज्ञवल्क्यस्मृती अपहाय स्मृत्यन्तरे, विष्णु-मार्कण्डेयौ विहाय पुराणान्तरे, रामायण-महाभारत-योश्चापि क्वचित्क्वचिद् दृश्यते । ब्रह्मसूत्रादिषडदर्शनानि तु साकल्येन सम्यञ्चीति सर्वं यथायथं परीक्षणीयम् ।

धर्म एव द्रुमः । मयूरव्यंसकादिः । धर्मो द्रुम इव इति वा । धर्मघटकत्वात् । धर्मद्रुमस्य बीजं हेतुः । तथा चास्माभिरुपदिश्यते राज्ञः प्रति—

"राष्ट्रे पुरे ग्रामटिकान्तरे च धर्मप्रचाराय सदा यतध्वम् ।
य आश्रयीभूय विधीयमानो जनं पतन्तं धरतीति रूढिः ॥

(चातुवर्ण्यशि० ७२ श्लो०)

इति । उपनिपूर्वात् सदेः कर्तरि क्विपि उपनिषदः—मन्त्रब्राह्मणलक्षणस्य वेदस्य भागाः । यथा वाजसनेयिमन्त्रसंहितायाश्चत्वारिंशोऽध्याय ईशावास्योपनिषद् वाजसनेयिब्राह्मणस्य शतपथस्य चतुर्दशः काण्डो बृहदारण्यकोपनिषद् । अरण्ये पाठ्यत्वाद् आरण्यकमिति संज्ञा । यदाहुः—

"अत्र चोपनिषच्छब्दो ब्रह्मविद्यैकगोचरः ।
तच्छब्दावयवार्थस्य विद्यायामेव संभवात् ॥
उपोपसर्गः सामीप्ये तत्प्रतीचि समाप्यते ।
सामीप्यतारतम्यस्य विश्रान्तेः स्वात्मनीक्षणात् ॥
त्रिविधस्य सदर्थस्य निशब्दोऽपि विशेषणम् ।
उपनीय तमात्मानं ब्रह्मापास्तद्वयं ततः ॥
निहन्त्यविद्यां तज्जं च तस्मादुपनिषद् भवेत् ।
निहन्त्यानर्थमूलं स्वाविद्यां प्रत्यक्तया परम् ॥
गमयत्यस्तसंभेदमतो वोपनिषद् भवेत् ।
प्रवृत्तिहेतून्निःशेषांस्तन्मूलोच्छेदकत्वतः ॥
यतोऽवसादयेद् विद्या तस्मादुपनिषद् * भवेत् ।" इति ।

---

* अत्रेदमप्यनुसंधेयम्—उपनिषच्छब्दो ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारविषयः । उपनिपूर्वस्य क्विप्प्रत्ययान्तस्य 'षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु' इत्यस्य धातोरुप-

उपनिषदाम् अवनिः प्रादुर्भावस्थानम् । दर्शनानां शास्त्राणाम् आस्पदं प्रतिष्ठा । मङ्गलानां श्रेयसाम् । आस्थानं संसद् । अतुला निरुपमा आनन्दा एव माकन्दकाः सहकारा आम्रविशेषाः । तेषाम् उपवनम् आरामः । कलौ कलेर्वा कलुषा मलिनाः कथाः वाक्यप्रबन्धाः ताभिर्ये क्लेशाः—अविद्या-स्मिता-राग-द्वेषाभिनिवेशाः-पुराणेतिहासयोः तमो-मोह-महामोह-तामिस्रान्धतामिस्रसंज्ञाभिर्वर्णिताः, तैः संतापं भजन्तीति तेषाम् । भजो शिवः । स्फूर्जन्ती भासमाना पीयूषस्य सुधायाः वृष्टिः वर्षाः । रिपूणाम् अन्तः-संचारिणां काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्याख्यानां षण्णाम् एतत्संसर्गेण परेषां रावणादिदुर्विनीतानां च प्रत्याख्यानं निराकृतिः । अतएव एकोऽद्वितीयः । तथा चोद्धुष्यते सुन्दरकाण्डे वायुसूनुना—

'जयत्यतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः ।
राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः ॥'

(वाल्मी. रा. यु. कां. ४२. २०)

जनयति ब्रह्मविद्याम् उपपादयतीति जनको विदेहः । ण्वुल् । 'जनिवध्योश्च' (पा० सू० ७. ३. ३५) इति निषेधाद् वृद्धिप्रतिषेधः । विदेहेत्यत्र—'अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः' (छां० उ. अध्या. ८ सं .१२) इत्यप्यनुसंधेयम् । तस्य राज्ञोऽपत्यमयोनिजा जानकी । अस्या अयोनिजत्वं तु सीतेत्यौपचारिकनाम्नापि व्यक्तम् । जानकी जाया पत्नी अस्येति जानकीजानिः । 'जायाया निङ्' (पा० सू० ५.४. १३४) जङ्गम्यते इति जगत् स्थावरजङ्गमात्मकं विश्वम् । चिरं चिराय । अवतु रक्षतु । इहावतेरन्येऽप्यर्था यथासंभवमुन्नेयाः । लोट् च (पा० सू० ३. ३. १६२) इति प्रार्थनायां लोट् । स्रग्धरावृत्तम् ॥ ३ ॥

निषदिति रूपम् । तत्रोपशब्दः सामीप्यमाचष्टे । तच्च संकोचकाभावात् सर्वान्तरे प्रत्यगात्मनि पर्यवस्यति । निशब्दो निश्चयवचनः । सोऽपि तत्तत्त्वमेव निश्चिनोति तन्नैकत्यवाच्युपशब्दसामानाधिकरण्यात् । तस्माद् ब्रह्मविद्यास्वसंशीलिनां संसारसारतामतिं सादयति विषादयति शिथिलयतीति वा परमश्रेयोरूपं प्रत्यगात्मानं सादयति गमयतीति वा दुःखजन्मप्रवृत्त्यादिमूलाज्ञानं सादयत्युन्मूलयतीति वोपनिषत्पदवाच्या । सैव प्रमाणम् । तस्याः प्रमारूपायाः करणभूतः सर्वशाखासूत्तरभागेषु पठ्यमानो ग्रन्थराशिरप्युपचारात् प्रमाणमित्युच्यते । स्पष्टश्चायमर्थो बृहदारण्यकभाष्यादिषु ॥

सांप्रतं महाराजस्य कलेस्तत्प्रकृतेश्च महिमानमुदीरयति—

विद्राणेव गुणज्ञता सरसता लीनेव मैत्रीप्रथा
छिन्नेव प्रलयं गतेव महतां वाक्येषु हेवाकिता।
एका स्वार्थविकस्वराद्य वलते वैचित्र्यचर्या यया
निःशङ्कं महितापि पूर्वसरणिः सद्यः समुत्सार्यते ॥४॥

विद्राणेति। गुणानां शौर्यादीनां ज्ञता वेत्तृता विद्राणेव पलायितेव। विपूर्वाद् द्रातेः कर्तरि क्तः। निष्ठानत्वं णत्वं च। सरसता सहृदयभावः। लीनेव लुक्कायितेव। मैत्री सख्यं तस्याः प्रथा निर्व्याजावस्थानम्। छिन्नेव विशीर्णेव। महतां महापुरुषाणाम्। वाक्येषु उक्तिषु। हेवाकोऽभिलाषोऽस्यास्तीति हेवाकी तस्य भावस्तत्ता। श्रद्धेति यावत्। प्रलयं गतेव विनाशं प्राप्तेव। अद्य इदानीम्। एका केवला। स्वार्थेन आत्मनोऽभिलषितेन विकस्वरा भासुरा। विपूर्वात् कसतेः कर्तरि वरच्। विचित्रस्य भावो वैचित्र्यम् वैलक्षण्यम्। ष्यञ्। तस्य चर्या घटना वलते व्याप्नोति। वल संवरणे। यया वैचित्र्यचर्यया। महिता पूजितापि। पूर्वा पारम्परिकी। किं वा—

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः।
तेन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते॥ (मनु० ४.१७८) इति

मनूपदेशेन पूर्वेषां पितृपितामहादीनां सरणिः आचारपद्धतिः। निर्गता अपक्रान्ता शङ्का आतङ्को यस्मिन् कर्मणि तद् यथा स्यात् तथा। सद्यः अविलम्बितं समुत्सार्यते परावर्त्यते। समुत्पूर्वात् सरतेर्णिजन्तात् कर्मणि लट्॥ शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्॥४॥

सांप्रतं भारतवर्षस्य अपकर्षमूलकान् पुरुषान् विभजन् निर्विण्णो भगवन्तं प्रार्थयते—

एके मान्द्यजुषः, परे परगुणच्छेदक्रियाकर्कशा
हन्तान्ये द्विरदेक्षिकाव्यसनिनो निःसारमित्थं जगत्।
इत्यालोच्य मुहुर्मुहू रघुकुलोत्तंस! प्रशंसाश्रय!
ब्रह्मण्याद्भुतवीर्य! केवलमदस्त्वामेव याचामहे॥५॥

एक इति। एके मुख्याः, प्रज्ञापराधेन। मन्दस्य कर्म भावो वा मान्द्यम्। 'मूढाल्पापटुनिर्भाग्यमन्दाः स्युः' इत्यमरः। तज्जुषन्ते सेवन्ते इति मान्द्यजुषः। कर्तरि क्विप्। पितृपितामहादिसमुपार्जितसंपदं भुञ्जाना इति यावत्। परे अन्ये,

परे उत्कृष्टा वा, परेषां ये गुणा अभिलषणीया अन्तःकरणधर्माः तेषां छेदक्रियाः दोषारोपणव्यापाराः, तत्र कर्कशा निष्ठुरस्वभावाः– 'योगिनो योगिनां मध्ये भोगिनोऽपि च भोगिनाम्। विदुषामतिविद्वांसो दुर्जनाः कैर्विनिश्चिताः ॥' इत्येवंप्राया महासंस्थानविप्लावकाश्चाटुकाराः। हन्तेति खेदे। अन्ये इतरे। द्वौ रदौ दर्शनार्हौ येषां ते द्विरदाः मातङ्गाः। तेषाम् ईक्षिका नयननिमीलिका तद्व्यसनिनः। तद्वद् विलोकयितार इति तात्पर्यम्। प्रायो लक्ष्मीदुर्ललितप्रकृतय एवमनुभूयन्ते। इत्थं विवेचनेन जगत् निस्सारं गतश्रीकम्। इति मुहुर्मुहुः पौनः–पुन्येन आलोच्य विविच्य। हे रघुकुलोत्तंस! रघूणां कुलम् अन्वयः तस्य उत्तंसो भूषणम्, तत्संबुद्धिः। रघुशब्दो यदुशब्दवत् तदपत्ये लाक्षणिकः। प्रशंसाया आश्रय! आधार! मर्यादापुरुषोत्तमत्वात्। ब्रह्मणि साधुः ब्रह्मण्यः, तत्संबुद्धिः। तत्र साधुरिति यत्। 'ये चाभावकर्मणोरि'त्यनः प्रकृतिभावः। अत्र ब्रह्म वेदो ब्राह्मणश्च। शम्बूकनिग्रहेण ब्राह्मणबालरक्षणकथा प्रसिद्धैव। अद्भुतमाश्चर्यभूतं वीर्यं यस्येति तत्संबुद्धिः। अद्भुतत्वं समुद्रनिग्रहादौ सुप्रसिद्धम्। अदः केवलं त्वामेव याचामहे अर्थयामहे। अदसा निर्देश्यं प्रधानं कर्म संबोध्यस्य अन्तर्यामित्वेनानुल्लिखितम्। एवकारेण दात्रन्तरव्युदासः ॥५॥

सांप्रतमादिकविं भगवन्तं वल्मीकजन्मानं स्मरति—

स्मरामि रामायणसर्गबन्धब्रह्माणमाबद्धरसप्रवाहम्।
योऽद्वैतसिद्धान्ततरङ्गिताया वेदान्तलक्ष्म्याः कुतुकान्यतानीत् ॥ ६ ॥

स्मरामीति। सप्तकाण्डात्मकं क्रियाप्रधानं षट्प्रकरणात्मकं ज्ञानप्रधानं चात्र रामायणपदार्थः। स्मरामि तदीयलोकोत्तरकविकर्मभावनेन तं प्रति प्रह्वीभवामीति तात्पर्यम्। यः आदिकविः अद्वैतं जीवब्रह्मैक्यम्। लोके चेत्यचित्पदयोराभास्याभासकत्वेन पार्थक्याभ्युपगमेऽपि पर्यवसाने चित एव वस्तुत्वम्। अभिधीयतेऽपि रूपकेण–

'मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ।
यथेष्टं पिबतां द्वैतं तत्त्वमद्वैतमेव हि ॥' इति।

अद्वैतस्य सिद्धान्ताः वादिप्रतिवादिभ्यां निश्चितार्थाः। तैः तरङ्गितायाः विचारितायाः। इतच्। वेदान्तस्य उपनिषत्प्रमाणस्य लक्ष्म्याः कुतुकानि कौतुकानि। अतानीत् अतनिष्ट। तनोतेः कर्तरि लुङ्॥ इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयोरुपजातिः ॥ ६ ॥

साम्प्रतं प्रकृतमुक्तिविशेषं काव्यवस्तु निर्दिशति–

प्रसह्य सद्यो हृदयं विशन्तः
क्रियन्त एवाद्भुतभङ्गिहृद्याः ।
पदे पदे कन्दलयन्ति रागं
कान्ताकटाक्षा इव वाग्विलासाः ॥७॥

प्रसह्येति । किं प्रमाणमेषां ते क्रियन्तः, कतिचिदेव न तु सर्वे । 'वाताधिका हि पुरुषाः कवयो भवन्ति' इति निषेधस्मरणात् ।

'अधीत्य शास्त्राण्यभियोगयोगाद-
भ्यासवश्यार्थपदप्रपञ्चः ।
तं तं विदित्वा समयं कवीनां,
मनः प्रसत्तौ कवितां विदध्यात् ॥' इति विधिश्रवणाच्च ।

अद्भुता हृदयावर्जिका या भङ्गी रचनाविशेषः तया हृद्याः हृदयंगमाः । हृदयस्य प्रियाः हृद्याः । यति हृदयस्य हृदादेशः । 'भव्याः' इति पाठे-भव्याः उज्ज्वलाः । वाचां विलासाः । कान्ताकटाक्षा इव । प्रसह्य बलात् । अव्ययम् । सद्यः तत्क्षणम् । हृदयं मानसं विशन्तः लभमानाः । पदे पदे प्रतिपदम् । वीप्सायां द्विर्भावः । पदम् सुप्तिङ्लक्षणं चरणविन्यासश्च । रागम् अनुरागम् । कन्दलयन्ति अङ्कुरयन्ति । उत्पादयन्तीति यावत् । कन्दलशब्दात्–'तत्करोति तदाचष्टे' (ग० सू० २०४) इति णिच् । पूर्ववदुपजातिः ॥ ७ ॥

एवं पद्यमभिदधत् प्रबन्धस्य चम्पूत्वव्यपदेशार्थं गद्यमवतारयन् रामायणकथामुपक्षिपति–तत्र तावत् प्रथमं विनेयैरिदमवधातव्यम्–शब्दार्थाभ्यां दोषवर्जं कविकर्म रीयते अलंक्रियते गुण्यत इत्यतो रसोऽपि नापेयात् । येन यो हि तात्पर्येणाभिधीयते लक्ष्यते व्यज्यते स प्रथमया विभक्त्या अभिधेय-लक्ष्य-व्यङ्ग्य-रूपः तृतीयया च अभिधायक-लाक्षणिक-व्यञ्जकरूप इत्यतिरोहितम् । सोऽयं शब्दार्थप्रपञ्चो हर्षचरिते वाणीं वाणयता वाणेन–

'श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम् ।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षरडम्बरः ॥
नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः ।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुष्करम् ॥'

इति कवितारहस्याचिख्यापयिषया निरटङ्कि। एवंप्रायाभिप्रायवान् ननु शब्दार्थौ काव्यमित्याचार्यरुद्रटमनुसरन्–'तददोषौ शब्दार्थौ'–(का० प्र० १।२) इत्यादिसूत्रेण राजानकमम्मटोऽपि यथाशासनमुपदिदेश। यच्च तैलङ्गान्वयमङ्गलान्वयमहालक्ष्मीदयालालितेन–

'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता, लोकोत्तरत्वं चानुभवसाक्षिको जातिविशेषः।' (रसग० प्रथमा.)

इति समयान्तरेणावोचि तदप्यापाततो रमणीयम्। तथा परिष्कारेऽपि शब्दार्थयोरेकस्य काव्यत्वाभिधाने अन्यस्याप्राधान्यापत्तेः। 'शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते' (शिशु० व० २।८६) इत्यादिना द्वयोरेव प्राधान्यावगतेश्चेति दिक्।

साहित्यापराख्यमिदमलंकारशास्त्रमपि ब्रह्मादिदेवोद्भूतमपि रुद्रोपज्ञत्वेनाख्यायते। तदिदं नाट्यं काव्यमिति द्विधा स्मर्यते। द्वयोरपि प्रपञ्चन नाट्यशास्त्राग्नेयपुराणादौ। तत्राद्यम्–'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः' (पा० ४।३।११०) इति पाणिनिनाप्यस्मारि। द्वितीयं पुनः–'अग्निमीले-' (ऋ० १।१।१।१) इत्यादि– 'वागर्थाविव संपृक्तौ–' (रघु० १।१।) इत्यन्तमनेकधा श्रोत्रियैः पण्डितैश्च परीक्षितमेव। तत्र–'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः–' (शु० य० सं० ४।८) इत्यादि प्रकृती रूढैव। इह गुणदोषालंकाररीतिरूप एकः प्रवाहः। विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगनिष्पत्तिको व्यञ्जनावलम्बितो रसो द्वितीय इति सर्वं यथायथं वस्तुस्थापनधियैवावधातव्यं धीधनैर्नान्यथेत्यलम्। प्रकृते तु—

'गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते।' इति,
'वृत्तबन्धोज्झितं गद्यं मुक्तकं वृत्तगन्धि च।
भवेदुत्कलिकाप्रायं चूर्णकं च चतुर्विधम्।
आद्यं समासरहितं वृत्तभागयुतं परम्॥
अन्यद्दीर्घसमासाढ्यं तुर्यं चाल्पसमासकम्।'
इति च दर्पणोक्तानि षष्ठपरिच्छेदे गद्यलक्षणानि।

अथ कथाप्रसङ्गे मुनिपुंगवो वाल्मीकिर्यदृच्छयाऽऽगतं देवर्षिं परमेष्ठितनयं नारदं पप्रच्छ॥८॥

अथेति। पुमांश्चासौ गौश्च, पुमान् गौरिवेति वा। 'गोरतद्धितलुकि' इति टच्।

'स्युरुत्तरपदे व्याघ्रपुङ्गवर्षभकुञ्जराः ।
सिंहशार्दूलनागाद्याः पुंसि श्रेष्ठार्थगोचराः ॥' इत्यमरः ।

मुनिषु पुंगवः ।

'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥' (२।५६) इति गीता ।

दीव्यतीति देवः । ऋषति आम्नायं पश्यति इति ऋषिः । देवश्चासौ ऋषिश्च देवर्षिः । तम् । परमेष्ठितनयं हिरण्यगर्भाङ्गभुवम् । पप्रच्छ । प्रच्छ ज्ञीप्सायाम् । दुह्यादित्वाद् द्विकर्मा । तत्र द्वितीयं प्रधानं कर्म वक्ष्यमाणम् ॥८॥

सांप्रतमस्मिन् लोके को नु श्रीमान् कीर्तेः प्रतापस्य चाश्रयः, सुकृतोज्ज्वलः प्रजावत्सलः, इति पृष्टः स प्रत्युवाच—॥९॥

सांप्रतमिति । 'नुःस्यात् प्रश्ने विकल्पार्थेऽप्यतीतानुनयार्थयोः' इति विश्वः ॥९॥

वैवस्वतस्य मनोर्वंशे मुक्तामणिः, इक्ष्वाकुकुलकुवलये दिनमणिः, महापुरुषहीरः रघुवीरः, असतां विरामः सतामारामः श्रीरामः, इत्यभिधाय देवलोकं गते देवर्षौ सहर्षो भरद्वाजद्वितीयो महर्षिर्माध्याह्निकाय नियमाय जाह्नव्या नातिदूरं तमसातीरं समाससाद ॥१०॥

वैवस्वतेति । विवस्वतः सूर्यस्यापत्यं वैवस्वतः तस्य मनोः ।

'स्वायंभुवो मनुरभूत् प्रथमस्ततोऽमी,
स्वारोचिषोत्तमजतामसरैवताख्याः ।
षष्ठस्तु चाक्षुष इति प्रथितः पृथिव्यां,
वैवस्वतस्तदनु संप्रति सप्तमोऽयम् ॥' इति ।

वंशोऽन्ववाये वेणौ च । मुक्ता मणिरिव मुक्तामणिः । इक्ष्वाकूणां कुलमेव कुवलयं कमलविशेषः तत्र । दिनमणिः प्रद्योतनः । महापुरुषेषु हीरः हीरकरत्नम् । अलंकार इति यावत् । रघुषु वीरः । विरामोऽवसानम् । आराम आनन्दस्थानम् । भरद्वाजस्तदाख्यो मुनिरुपचारार्थं द्वितीयो यस्य सः । मध्याह्ने भवो माध्याह्निकः स्नानसंध्यातर्पणरूपो नियमः तदर्थम् । नातिदूरमिति नशब्देन 'सुप्सुपा' इति समासः । नातिविप्रकृष्टमित्यर्थः । तमसा नदीविशेषः । सा च कोसलेषु सरय्वाः दक्षिणस्यां दिशि क्वचिन्निर्जला क्वचित्सजलेति । 'वितमसा तमसासरयूतटाः'

इति रघुवंशम्। तस्याः तीरं तटम्। समाससाद प्राप ॥१०॥

तत्र पुण्येष्वरण्येषु विचरन्नग्रे क्रौञ्चस्त्रीपुंसयोरेकं पुमांसं मन्मथमोहितं निषादशरविद्धं शोणितपरीताङ्गं भूतले विलुठन्तं ददर्श ॥११॥

तत्रेति। क्रौञ्चौ चक्रवाकौ, स्त्री च पुमांश्च इति स्त्रीपुंसौ। 'अचतुरे'ति साधु। तयोः। निषादस्य व्याधस्य शरेण विद्धं ताडितम्। शोणितेन क्षतजेन परीतानि आप्लुतानि अङ्गानि यस्य तम्। ददर्श आलुलोके ॥११॥

तं तथा चेष्टमानं पश्यतस्तस्य दयानिधेर्हृदयालीनः शोकानलप्रवर्तितः साक्षात्करुणरस एव—

'मा निषाद! प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥'
इति श्लोकच्छलेन निःससार ॥१२॥

तमिति। तथा चेष्टमानम्। चेष्ट चेष्टायाम्। कर्तरि शानच्। क्रोशन्तमिति यावत्। दयते अनया इति दया। दय रक्षणे। षिद्भिदादिभ्योऽङ्। निदधाति अस्मिन्-निधीयतेऽसाविति वा निधिः। 'कर्मण्यधिकरणे च' इति किः। दयाया अन्तःकरणधर्मविशेषस्य निधिः तस्य। हृदयं मानसम् आलीन आरूढः। शोक एव अनलः परपीडासहिष्णुतया संतापजनकत्वेन दहनः तेन प्रवर्तितः संचारितः। साक्षात् मूर्तः। करुणरस एव तदाख्यरसविशेष एव। इति श्लोकच्छलेन—'मा निषाद—' इति काव्यसंसारे प्राथमिको यः श्लोकस्तच्छलेन व्याजेन। निःससार प्रादुरास। अत्र ध्वनिकारः—

'काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तदा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥'

इति विविधविशिष्टवाच्यवाचकरचनाप्रपञ्चचारुणः काव्यस्य स एवार्थः सारभूतः संनिहितसहचरीविरहकातरक्रौञ्चाक्रन्दजनितः शोक एव श्लोकतया परिणत इत्यर्थः।' (ध्वन्या. १ उद्यो.) इति। 'मा निषाद—' इति श्लोकार्थस्तु—

रे निषाद! व्याध! निषीदति मनः पापे वा अस्मिन्निति। षद्-घञ्। निष्करुणेत्यर्थः। त्वं शाश्वतीः निरन्तराः। शश्वद् भवः अण्, ततो ङीष्। ताः। समाः वत्सरान्। द्वितीयाबहुवचनम्। समाशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः। तथाच-संवत्सरो वत्सरोऽब्दो हायनोऽस्त्री शरत् समाः' । इति । तत्प्रायोऽभिप्रायेण।

पाणिनिराचार्यस्तु–'समां समां विजायते' (पा० ५-२-१२) इति सूत्रयन्नेकवचनान्ततामस्य प्रतिपेदे। प्रतिष्ठां स्थितिम्। आश्रयं चेत्यर्थः। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। 'प्रतिष्ठास्थितिमाहात्म्ये' इति वैजयन्ती। मा अगमः मा प्राप्नुहि। आशंसायां भूतवच्चेति लुङतिदेशः। न कदाचित् त्वं निरुद्वेगमेकत्रावासं प्राप्स्यसीति तात्पर्यम्। अगम इत्यत्र छान्दसोऽडागमः। काशिकाकारस्तु नाथ माङ् किन्तु मा शब्द एवेत्यडागमं समर्थितवान्। दुर्घटवृत्तिकारेण पुनः 'त्वमगम' इत्यत्र तुशब्दः पुनरर्थे। मा शब्दस्य लक्ष्मीवाचिनो नञा बहुव्रीहौ 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' (पा० १।२।४८) इति ह्रस्वे हे अम! अलक्ष्मीकेति निषादविशेषणं मत्वा अडागमप्रसक्तिर्वार्यत इति विशेषः। रामायणमञ्जर्यामाचार्यक्षेमेन्द्रेण तु त्वमगमेत्यत्र 'त्वमालब्धाः' इति पाठान्तरमुपकल्पयता सेयमनुपपत्तिः समाहितेति सर्वं यथायथमनुसंधेयम्। यत् यस्मात्। त्वं क्रौञ्चमिथुनात्–क्रुञ्च एव क्रौञ्चः। स्वार्थे अण्। तयोर्मिथुनं दाम्पत्यरूपं द्वन्द्वम्, तस्मात्। ल्यब्लोपे पञ्चमी। तमासाद्येत्यर्थः। एकं पुंरूपावयवं काममोहितं–कामेन रतिक्रीडया मोहितं रसावेशनिर्भरम्। अवधीः हिंसितवानिति शापाभिप्रायकोऽर्थः।

ब्रह्मणः प्रसादाधिगतः प्रथमोऽयमादिकवेर्वाङ्निष्यन्दो न केवलं शापपर एव भवितुमर्हति यावन्मङ्गलार्थकोऽपीति मन्वानाः पूर्वाचार्या भगवन्महिमाशंसकत्वमप्यस्य वर्णयन्ति। तद्यथा—

निषीदत्यस्मिन्निति निषादो निवासः, मा लक्ष्मीः, तस्या निषादो मानिषादः श्रीनिवासः, तत्संबुद्धिः। त्वं शाश्वतीः समाः सर्वकालं, प्रतिष्ठां माहात्म्यम् अगमः लभस्व। लकारव्यत्ययः। यत् यस्मात् क्रौञ्चमिथुनाद् रावणमन्दोदरीरूपाद् राक्षसमिथुनात्। कामेन मोहितं सीतापहर्तारम्। एकं रावणम् अवधीः। रावणं हत्वा त्रैलोक्यसंरक्षणपरस्त्वं चिराय विजयस्वेति परमार्थः। वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः। अत्र च सप्तकाण्डोपनिबद्धं रामायणीयं कथाशरीरमपि भङ्ग्यन्तरेणोपन्यस्तं स्वयमुत्प्रेक्षितुं सुशकमिति नेहायस्तम्। वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यविधया श्लेषमर्यादया च तत्र तत्र संभवन्तोऽप्यर्थाः प्रतिपदं व्याख्यातुमशक्याः प्रेक्षावद्भिः स्वयमुन्नेया इत्यलं व्याख्याननिर्बन्धेन॥

शकुनिशोकावेशेन मया किमिदं श्रवणपेयं व्याहारीति सविस्मयं भरद्वाजं ब्रुवाणो यथाविधि विहिताभिषेकस्तेनैवापूरितकलशीकेन पृष्ठतोऽनुगम्यमानः स्वाश्रमं प्रतिपेदे ॥१३॥

शकुनिशोकेति । शकुनेः चक्रवाकस्य शोकावेशः शुचोऽवतरः यस्य तेन । मया किमिदं श्लोकरूपं श्रवणाभ्यां पेयं श्रोत्ररसायनं व्याहारि अभाषि । वि-आङ्-पूर्वाद् हरतेः कर्मणि लुङ् । सविस्मयं साश्चर्यं यथा तथा भरद्वाजमुनिं ब्रुवाणः ब्रुवन् । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि । शानच् । विधिमनतिक्रम्य यथाविधि । विहितः अद्वैवतैर्मन्त्रैः संपादितः अभिषेकः स्नानं येन सः । तेनैव भरद्वाज-मुनिना आपूरिता कलशी कुम्भिका येन तेन । 'नद्यृतश्च' (पा० ५।४।१५३) इति कप् । पृष्ठतः पृष्ठभागे । अनुगम्यमानः अनुस्रियमाणः । स्वाश्रमपद निजावास-स्थानम् । प्रतिपेदे आजगाम । पद गतौ । अत्र वेदब्राह्मणोपनिपत्सु श्लोकाख्यस्य च्छन्दसः प्रसिद्धत्वेऽपि तस्य रसप्राधान्यादाश्चर्यत्वोक्तिः । अतएव महामुनेरादि-कवित्वाख्यानमिति सर्वं समञ्जसम् ॥ १३ ॥

तत्र तमर्थं ध्यायतो महामुनेः पुरस्तादितरत्र श्लोकोपलम्भमसह-मान इव मन्त्रब्राह्मणलक्षणस्य ब्रह्मण उपबृंहणस्थानमाम्नायकथयिता ब्रह्मा प्रादुर्बभूव ॥१४॥

तत्रेति । तमर्थं श्लोकात्मकम् । ध्यायतः पुनः पुनर्विचारयतः । महामुने-र्वाल्मीकेः । पुरस्ताद् अग्रे । इतरत्र वेदेभ्योऽन्यत्र । श्लोकस्य पद्यस्य । उपलम्भम् उपलब्धिम् । असहमानः अमर्षमाणः । इवेत्युत्प्रेक्षायाम् । तथा चाचार्य दण्डीपठति—

'मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः ।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः ॥' इति ।

ब्रह्मणः वेदस्य । उपबृंहणस्थानम् आविर्भावभूमिः । वेदा हि कारणब्रह्मणा कार्यब्रह्मणश्चतुराननस्य हृदये प्रकाशिताः । तत ऋषिमुनिषु विस्तरं प्राप्ताः । तथाच श्रूयते—

'यो ब्रह्माण विदधाति पूर्वं यो वै वेदाँश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तꣳह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥'
(श्वेताश्व. उप. ६।१८)

इति । स्मर्यतेऽपि—

'युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः ।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयंभुवा ॥' इति ।
(तैत्तिरीयसंहिताभाष्यभूमि.)

आम्नायानां वेदानां कवयिता कवनकर्ता । आम्नायन्ते अभ्यस्यन्ते इति आम्नायाः । म्ना अभ्यासे । कर्मणि घञ् । कवयतीति कवयिता । तृच । 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः—' इत्यौपनिषदी श्रुतिः । ब्रह्मा हिरण्यगर्भः । प्रादुर्बभूव आविर्भवतिस्म ॥१४॥

सादरं पाद्यार्घ्यासनवन्दनैः सत्कृतश्चासौ दशनज्योत्स्नया पुण्यपीयूषं विकिरन्निव वल्मीकभुवमावभाषे—॥१५॥

सादरमिति । सादरं गौरवपूर्वकम् । पादायार्घाय च वारि पाद्यम् अर्घ्यम् । आसनम् विष्टरम् । वन्दनम् अभिवादनं स्तवनं च । तैः । सत्कृतः पूजितश्चासौ ब्रह्मा । दशनानां दन्तानां ज्योत्स्नया चन्द्रिकया । पुण्यमेव पीयूषं सुधाम् । विकिरन् विक्षिपन् । इव । वल्मीकाद् भवतीति वल्मीकभूः वल्मीकजन्मा । क्विप् । तम् । आबभाषे जगाद ॥१५॥

मुने ! करुणावतस्तव शोक एव सरससारस्वतप्रसरशंसकं श्लोकत्वमापन्नः । तन्नारदनिर्दिष्टं रामचरितं रामायणं विधीयताम् । एवमास्तां चिराय श्रुतिवहनपरिश्रान्ता सुधास्नपनशिशिरा सरस्वती । इत्याभाष्य तिरोहिते ब्रह्मणि तदाज्ञया प्रतीच्या ज्ञानदशा तपोनिधिरविकलं रघुराजचरितं करामलकीकृत्य स्वर्गमिव सुरसार्थसुन्दरं रामायणं विदधे ॥१६॥

मुने इति । मुने ! मननशील ! । करुणा विद्यतेऽस्यास्मिन्वेति करुणावान् । प्राशस्त्ये मतुप् । तस्य । क्रौंचवधहेतुकः शोक एव । सरसो हृदयाकर्षकः सरस्वत्याः अयं प्रसरः उद्गमः तस्य शंसकम् आवेदकम् । श्लोकत्वं पद्यभावम् । आपन्नः प्राप्तः । तदित्यव्ययं पञ्चम्यर्थे । नारदेन निर्दिष्टमाख्यातम् । रामचरितं रामायणं व्याख्यातचरम् । विधीयतां क्रियताम् । निर्मीयतामिति यावत् । विपूर्वको धाञ् करणार्थे, तत आशिषि कर्मणि लोट् । एवम् इत्थमनुष्ठिते । आस्तां भवतात् । चिराय चिरस्य । श्रुतीनाम् अपौरुषेयीणां गिरां वहनेन धारणेन परिश्रान्ता विलष्टा । अर्थप्रधानरामचरितवर्णनेन सुधास्नपनशिशिरा पीयूषावगाहनशीतला सरस्वती भगवती वाग्देवी । इत्याभाष्य आदिश्य । तिरोहिते अन्तर्हिते । ब्रह्मणि आत्मभुवि । तस्य आज्ञया शासनेन । प्रत्यञ्चतीति

प्रतीची। ऋत्विगिति क्विन्। उगितश्चेति ङीप्। तया प्रतीच्या सर्वंकषया। ज्ञानदृशा अवबोधदृष्ट्या। तपोनिधिः—तपसां कायिक-वाचिक-मानसिकलक्षणानां निधिरधिष्ठानम्। अविकलं समग्रम्। रघूणां राजा स्वामी तस्य चरितमाख्यानम्। करामलकीकृत्य हस्तकलितधात्रीफलवत् प्रत्यक्षीकृत्य। स्वर्गमिव नाकवत्। सुराणां देवानां सार्थो वर्गः। उपमेयपक्षे-सुरसाः वाच्य-लक्ष्य-तात्पर्य-व्यङ्ग्य रूपा अर्थाः तैः, सुन्दरं मनोहरम्। विदधे रचितवान्।

यदाहु :-'स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा।
वाच्यादयस्तदर्थाः स्युस्तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्॥' इति।
(का. प्र. २ उल्ला.)

'वाच्योऽर्थोभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मतः।
व्यङ्ग्यो व्यञ्जनया ताः स्युस्तिस्त्रः शब्दस्य शक्तयः॥' इति।
(सा. द. २ परि.)

'तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधने।
तात्पर्यार्थं तदर्थं च वाक्यं तद्बोधकं परे॥'
(सा. द. २ परि.) इतिच।॥१६॥

तदनु मुनिसुनासीरोऽश्विनाविव परस्परोपमौ वेदपरिनिष्ठितौ कुशलवौ रामायणरसायनं ग्राहयामास। तच्च तौ यथासंगीतं मुनिमण्डले गायन्तौ कदाचन रामभद्रनियोगेन तत्सनाथायां परिषदि यथाक्रमं गातुमुपचक्रमाते॥१७॥

तदन्विति। तदनु भविष्यतो रामायणस्य प्रणयनानन्तरम्। मुनिः सुनासीर इन्द्र इव। अश्विन्यां जातौ अश्विनौ आश्विनेयाविव। 'संधिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्' (पा० ४।३।१६) इत्यण्। 'नक्षत्रेभ्यो बहुलम्' (पा० ४।३।३७) इति लुकि—'लुक्तद्धितलुकि' (पा० १।२।४९) इति ङीपो लुक्। परस्परम् अन्योन्यम् उपमा सादृश्यं ययोस्तौ। कुशलवौ तन्नामानौ सीतादेव्याः सूनू। रामायणमेवाश्चर्यजनकत्वाद् रसायनम्। ग्राहयामास अध्यापयामास। कुशलवाविति अण्यन्तावस्थायां कर्तारौ ण्यन्तावस्थायां च कर्मणी। 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थ—' (पा० १।४।५२) इत्यनुशासनात्। तच्च यथावद्गृहीतं रामायणम्। तौ यमलौ यथासंगीतं गान्धर्वशास्त्रानुसारम्। मुनीनां मण्डले परिषदि। राम-

भद्रस्य दाशरथेः नियोगेन आदेशेन। तत्सनाथायां तेन भूपितायाम्। परिषदि सभायां यथाक्रमं यथासंबन्धम्। गातुमुपचक्रमाते प्रारेभाते। तदिदं वाल्मीकीयमार्षं तदुपजीव्यं प्रकृतं रघुवंशवत् पौरुषमिति व्यक्तम् ॥१७॥

अथेदानीं जनपदं वर्णयति–

अस्ति स्वस्तिमान्, प्रत्यादेशः स्वर्गोद्देशस्य, वीप्सा चैत्ररथप्रदेशस्य, दृष्टान्तसदनं सकलासेचनकानाम्, कविकर्मातिक्रान्तविभूत्या भगवत्या सरय्वा सरसीभूतभूभागः कोशलो नाम जनपदः ॥१८॥

अस्तीति। स्वस्तिमान् कल्याणानुबन्धी। स्वर्गोद्देशस्य स्वर्लोकस्य प्रत्यादेशो निराकृतिः। चैत्ररथप्रदेशस्य कुबेरावासस्य वीप्सा द्विर्भावः। सकलासेचनकानाम्–'तदासेचनकं तृप्तेर्नास्त्यन्तो यस्य दर्शनात्' इति लक्षितानां यावद्रमणीयानां दृष्टान्तसदनमादर्शः। कविकर्माणं वर्णनमतिक्रान्ता अतिशायिनी विभूतिरैश्वर्यं यस्यास्तथाभूतया। भगवत्या जलात्मकद्रवद्रव्यविलक्षणविग्रहालंकर्मीणया। एतच्चागमेषु गङ्गादिवर्णनेषु प्रसिद्धमेव। सरय्वा तदाख्यया महानद्या। सरसीभूतः मसृणप्रायः न तु मरुप्रदेशादिवन्नीरसः भूभागः भूमिप्रदेशो यस्य तादृक् कोसलो नाम उत्तरकोशलाख्यो जनपदो नीवृत्। अस्तीति पूर्वेणानुषङ्गः ॥ १८ ॥

यत्र परागमहिता वाटिका ब्राह्मणाश्च, उच्चापा ह्रदाः क्षत्रियाश्च, बहुलाभाः सस्यसंपदो वैश्याश्च, द्विजातिनताः फलिनः शूद्राश्च, अश्रान्तविक्रमाः कृपीवला विटपाश्च, सच्छाया मार्गा आश्रमाश्च, सदागोभृतः सीमानो गोपाश्च, सुरुचिराजीवनमिताः तडागाः कूपाश्च, बहुधान्यजुष्टा ग्रामा मठाश्च, तीव्रतापहारिणः छायावृक्षाः सन्तश्च ॥१९॥

यत्रेति। यस्मिँश्च कोसलजनपदे। पराः उत्कृष्टाः अगाः वृक्षाः, परागाः सुमनोरजांसि च, तैर्महिता महनीयाः। मह पूजायाम्। वाटिकाः वृक्षवाटिकाः। परा वेदसंमता आगमाः शास्त्राणि तत्र हिताः उचिताः ब्राह्मणा अग्रजन्मानश्च। एवमुत्तरत्रापि एकमेव विशेषणं विशेष्यद्वये संगच्छत इति द्रष्टव्यम्। उच्चाः भूयस्यः आपः सलिलानि येषु ते उच्चापाः। समासान्तोऽप् प्रत्ययः। ह्रदाः जलाशयाः। उद्धताः चापाः धनूंषि येषां ते उच्चापाः। क्षत्रियाश्च। बहुलाः आभाः

कान्तयो यासां ताः बहुलाभाः । सस्यसंपदः सस्यानां समृद्धयः । बहवः भूयांसो लाभाः कलान्तराद्यः येषां ते बहुलाभाः। वैश्या विशश्च। द्विजैः पक्षिभिः अतिनताः तद्विहारेणातिनमिताः । फलिनः शाखिनः । द्वे जन्म-कर्मरूपे जाती जन्मनी येषां ते द्विजातयो ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्याः। तेषु नताः नम्राः नतू-द्धताः। शूद्राः पादजाश्च । एवं चत्वारो वर्णा वर्णिताः। यत्र विभागे–'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्–' इति चतुर्वेदप्रसिद्धः पुरुषसूक्तमन्त्रः प्रमाणम् । प्रतिवादि-वादनिरसनपूर्विका जातिमीमांसा तु **'चातुर्वर्ण्यशिक्षाया वेददृष्टौ'** द्रष्टव्या।

अश्रान्ताः नवनवोन्मेषाः विक्रमाः पराक्रमाः येषां ते अश्रान्तविक्रमाः । कृषिरेषामस्तीति कृषीवलाः कृषकाः। 'रजः कृष्यासुतिपरिषदो वलच्' (पा० ५।२।११२) इति वलच्। 'वले' (पा० ६।३।११८) इति दीर्घः। अश्रान्तं निरन्तरं वीनां शकुनीनां क्रमाः क्रमणानि येषु ते अश्रान्तविक्रमाः। विटपाः पादपाभोगाश्च। सती विद्यमाना छाया अनातपो येषु ते सच्छायाः। मार्गाः पन्थानः । सताम् आचारवतां छाया कान्तिः येषु ते सच्छायाः। आश्रमाः ब्रह्मचर्यादयश्च। सदा गाः बिभ्रतीति सदागोभृतः । डुभृञ् धारणपोषणयोः। कर्तरि क्विप्। तुक् । सीमानः सीमाः । सदा आगांसि गोकर्तृकसस्यचारणेनापराधान् बिभ्रतीति तथोक्ताः। गोपाः, गोपालाश्च । सुष्ठु रुचिः शोभा येषां तथाभूतानि राजीवानि कमलानि, तैः नमिताः सुरुचिराजीवनमिताः । तडागाः सरांसि। सुरुचिराः सुन्दराः जीवनम् इताः प्राप्ताः। इण् गतौ। क्तः। कूपाश्च। बहुभिः धान्यैः व्रीहिभिः जुष्टाः संश्रिताः। जुषी प्रीतिसेवनयोः। क्तः। ग्रामाः। बहुधा अनेकधा। अन्यैः नानादिग्देशागतैः जुष्टाः सेविताः । मठाश्च । 'मठश्छात्रादिनिलयः' इत्यमरः। तीव्रं तापमातपं हर्तुं शीलं येषां ते तीव्रतापहारिणः छायाप्रधाना न्यग्रोधप्लक्षादयो वृक्षाः । शाकपार्थिवादिः। तीव्रता तैक्ष्ण्यम् अपहर्तुं शीलं स्वभावो येषां ते तीव्रतापहारिणः। ताच्छील्ये णिनिः। प्रियंवदा इत्यर्थः। सन्तः सज्जनाश्च। एवंचात्र वाटिकादिविशेष्यपदानां द्वन्द्वदशकम् विंशतिः ॥१६॥

यत्र च विविक्तसरयूतटाभोगः सर्वदातुलसीमवतामाधारतयानेकधारञ्जयति ॥२०॥

यत्र चेति । विविक्तः विजनः पूतश्च सरय्वाः तटाभोगः तीरविस्तारः। कर्तृपदम्। सर्वदा सदा हरिहरादिपूजार्थं तुलसीम् अवतां रक्षताम्। आधार-

तया आवासत्वेन। सर्वं नानासस्यं ददति वितरन्तीति सर्वदाः। अतुलाः निरुपमाः। यथायोगं निबद्धा इति यावत्। सीमाः चतुर्दिक्काः मर्यादाः सन्ति येषां येषु वेत्यतुलसीमवन्तः। सर्वदाश्च ते अतुलसीमवन्तश्च। विशेषणयोरपि परस्परं विशेषणविशेष्यविवक्षया–'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' (पा. २।१।५७) इति समासः। षष्ठ्यर्थबहुव्रीहिणा मतुवर्थाभिधानेऽपि तन्निबन्धनं क्वचिन्नासमञ्जसम्। इह–'प्रत्ययस्थात्कात्—' (पा. ७।३।४४) इति सूत्रे-'असुव्वतः' इति भाष्यप्रयोगो नियामकः। तथाभूतानां केदाराणाम्। आधारतया आश्रयत्वेन। सर्वदा अतुला सीमा अण्डकोशः तद्वतां कस्तूरीमृगाणाम्। आधारतया विहारस्थलत्वेन। सर्वं द्यन्ति खण्डयन्ति इति सर्वदाः अतुलाः अप्रतिभटाः सीमावन्तः व्याधादयः घातुकाः। तेषाम्। आधारतया मृगयास्पदत्वेन। अनेकधा बहुधा। रञ्जयति प्रीणयति। अनेकाः धाराः यस्मिन् कर्मणि तद् यथा स्यात् तथा। जयनक्रियाविशेषणम्। जयति लोकोत्तरं वर्तते। अभिभवतीति वा। अकर्मकः सकर्मकश्च जयतिरित्यर्थः ॥२०॥

अमन्दसौगन्ध्यतरङ्गिताभि-
मरन्दसंदोहकरम्बिताभिः।
पतत्प्रसूनोत्करबन्धुराभि-
र्यो भूष्यते कुञ्जपरम्पराभिः ॥२१॥

अमन्देति। यः कोसलाख्यो जनपदः। अमन्दं गाढं यत् सौगन्ध्यं सौरभ्यं तेन तरङ्गिताभिः नीरन्ध्रिताभिः। 'तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच्' (पा० ५।२।३६) इतीतच्। मरन्दानां मकरन्दानां संदोहः संचयः, तेन करम्बिताभिः संपृक्ताभिः। पतन्ति गलन्ति यानि प्रसूनानि कुसुमानि तेषाम् उत्करः संघातः तेन बन्धुराभिः मनोहराभिः नतोन्नताभिर्वा। कुञ्जानां निकुञ्जानां लतादिपिहितोदराणाम् अवस्थानानां परम्पराभिः संहतिभिः। भूष्यते अलंक्रियते। भूष-अलंकारे। कर्मणि लट्। उपजातिवृत्तम् ॥२१॥

उदारकर्माप्यनुदारकर्मा-
वनीपरागोऽप्यवनीपरागः।
यः पाटलाभोऽप्युपशल्यरूढ-
द्रुमावलीश्यामलितश्चकास्ति ॥२२॥

उदारेति । यश्च । उदाराणि प्रशस्तानि कर्माणि क्रियमाणानि यस्मिंस्तथाभूतोऽपि । न उदाराणि न प्रशंसाकर्माणि चरितानि यस्मिंस्तथोक्तः । अपिना विरोधो द्योत्यते । तत्परिहारस्तु–अनुदारम् अनुकुटुम्बिनि कर्म यस्मिन्नित्यनुदारकर्मा । अव्ययीभावगर्भो बहुव्रीहिः । पाटला श्वेतरक्ता आभा शोभा यस्य तादृगपि उपशल्येषु ग्रामान्तेषु रूढाः याः द्रुमाणां शाखिनाम् आवल्यः वीथ्यः ताभिः श्यामलितः श्यामलिमानं प्राप्तः–इति विरोधः । पाटलः श्यामलो न भवतीत्यर्थः । विरोधनिरासस्तु–पाटलैः व्रीहिभिः आभाति शोभते इति पाटलाभः । 'आशुर्व्रीहिः पाटलः स्यात्–इत्यमरः । वनीपः अवनीपोऽर्थाद् वनीपभिन्नो न भवतीति विरोधः । तत्परिहारस्तु–वनीपानां याचकानां रागः प्रीतिर्यत्र । धनधान्यसमृद्धत्वात् । अवनीपानां भूभुजां रागो यत्रेति । वनीम् अरण्यानीम्, अवनीं भुवं च पान्तीति वनीपाः अवनीपाः । 'आतोऽनुपसर्गे कः' (पा० ३।२।३) चकास्ति दीप्यते । चकासृ दीप्तौ । उपजातिवृत्तम् ॥२२॥

किमियता । यत्र च पुनर्हिमकरकरनिकरकरम्बितकुमुददलावदातकीर्तिकर्पूरकरण्डीकृतरोदसीकास्तपस्यन्ति तपोनिधयः ॥२३॥

किमियतेति । इयता किम् । यत्र च पुनः । हिमाः शिशिराः कराः यस्य सः हिमकरः चन्द्रः, तस्य कराः किरणाः, तेषां निकरः समुदायः, तेन करम्बितानि संवलितानि यानि कुमुदानि कैरवाणि, तेषां दलवत् पत्रवद् अवदाता विशुद्धा या कीर्तिः सैव कर्पूरः नासीरः, तस्य करण्डं स्थापनपात्रम्, तत्कृता रोदसी द्यावापृथिव्योर्वपुः यैः ते तथोक्ताः । 'अभूततद्भाव-'इति च्विः । समासान्तः कप् । तपोनिधयः ऋषयो मुनयः सुकृतिनश्च । तपस्यन्ति तपांसि चरन्ति । 'कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्तिचरोः' (पा० ३।१।१५) इति क्यङ् । 'तपसः परस्मैपदं च' इति वार्तिकेन परस्मैपदम् ॥ २३ ॥

येषां दर्शनमाशु मोहतिमिरध्वंसाय हंसायते
पादाम्भोजरजःकणश्च सुमनोहर्षाय वर्षायते ।
ते सिद्धीकृतसिद्धयोऽपि विषयास्वादस्पृहानिःस्पृहा
भूमानं कमपि स्मरन्ति सरयूक्रोडे कुटीवासिनः ॥२४॥

येषामिति । येषां तपस्यतां दर्शनम् आशु सद्यः । द्रष्टृणां मोहोऽज्ञानं स एव आवरकत्वात् तिमिरम् अन्धकारः, तस्य ध्वंसो नाशः, तदर्थं हंसः सहस्रकिरणः

इव आचरतीति हंसायते। उपमानपदाद् हंसात् कर्तुः आचारेऽर्थे क्यङ्। येषां च पादौ अम्भोजे इव, तयोः रजःकणः धूलिकणिका च। सुमनसां सुधियां हर्षः उल्लासः तदर्थम्। वर्षायते इति वर्षाशब्दात् पूर्ववत् क्यङ्। वर्षा अपि सुमनसां पुष्पाणां हर्षाय प्रभवन्तीति श्लिष्यते। ते। सिद्धीकृताः साधनानुषङ्गेण सिद्धपदवीं गताः। सिद्धयः अणिमादयः येषां ते तथाभूता अपि। नियमापेक्षया विषयाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनघ्राणगोचराः, तेषाम् आस्वादस्पृहाः ग्रहणवासनाः, तासु निःस्पृहाः निष्क्रान्तगार्ध्याः। अतएव सरयूक्रोडे सारवप्रान्तरे, कुटीषु पर्णशालासु वसन्ति तच्छीलाः महात्मानः। कमपि अनिर्वचनीयम्। भूमानं पारमेश्वरं महः। स्मरन्ति चिन्तयन्ति। स्पष्टोऽयमर्थो वेदान्तदर्शने—'भूमा संप्रसादादध्युपदेशात्' (वे० द० १।३।८) इति सूत्रवृत्तिभाष्ययोः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥२४॥

वातान्दोलनकेलिलोलसरयूकल्लोलमालोज्ज्वले
सर्वाङ्गीणफलप्रसूनविभवव्याघूर्णमानद्रुमे।
क्वापि ब्रध्नसुतान्तरालविकसन्नीलाम्बुजन्मोपरि
क्रीडत्षट्पदकान्ति किंचन महो ध्यायन्ति बद्धासनाः ॥२५॥

वातेति। बद्धं स्वस्तिकपद्मादि स्थिरसुखम् आसनं यैः तथोक्ताः महापुरुषाः। वातस्य समीरणस्य या आन्दोलनकेलिः व्यापारलीला, तया लोलाः चञ्चलाः ये सरय्वाः कल्लोलाः उल्लोलाः, तेषां मालाभिः परम्पराभिः उज्ज्वले प्रकाशमाने। सर्वाङ्गाणि व्याप्नोतीति सर्वाङ्गीणः सर्वावयवसंपूर्णः। 'तत्सर्वादेः पथ्यङ्गकर्मपत्रपात्रं व्याप्नोति' (पा० ५।२।७) इति खः। सर्वाङ्गीणो यः फलप्रसूनविभवः प्रसवसंपत्, तेन व्याघूर्णमानाः व्याजृम्भमाणाः द्रुमाः यस्मिंस्तादृशि। क्वापि प्रदेशे। ब्रध्नस्य सूर्यस्य सुता यमुना, तस्या अन्तराले मध्ये, विकसन्ति विकस्वराणि, नीलाम्बुजन्मानि इन्दीवराणि, तेषाम् उपरि उपरिष्टात्। क्रीडतां षट्पदानां कान्तिरिव कान्तिर्यस्य तत्। 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य' इति वार्तिकेनोत्तरपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः। अथवा—क्रीडन्तः खेलन्तो ये षट्पदास्तद्वत् कान्तिर्यस्य तत्। किंचन किमपि। रामात्मकं कृष्णात्मकं वा महः। तच्च लीलाविग्रहोपलक्षकमपि। देवानां विग्रहवत्त्वे—'विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात्' (वे० द० १।३।२७) इति वेदान्तसूत्रमपि निरूपितम्। ध्यायन्ति चिन्तयन्ति। पद्याभ्यामाभ्यां योगाभ्यासयोग्या भूमिः सूचिता। तथा च न्यायसूत्रम्—'अरण्यगुहापुलिनादिषु

योगाभ्यासोपदेशः' (४।२।४२) इति। शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ॥२५॥

इदानीमयोध्यापुरीं वर्णयति—

तत्र च यथाविधि विधीयमानवर्णाश्रमधर्मक्रियाकौशलेषु कोशलेषु मानवमरुत्वता मनुना निर्मिता द्वादशयोजनायामा त्रियोजनविस्तारा सुरासुरैरयोध्या अयोध्या नाम पुरी विधिकर्मावधिः सर्वसंपन्निधिः ॥२६॥

तत्र चेति। विधीयन्त इति विधयः श्रौत-स्मार्त-पौराणलक्षणाः। उक्तं च—

'चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचकाः।' इति।

विधीननतिक्रम्य वर्तत इति यथाविधि। यथाविधि विधीयमानाः अनुष्ठीयमानाः। वर्णानां ब्राह्मणादीनां तदन्तरप्रसूतानां च आश्रमाणां ब्रह्मचर्यादीनां तदवस्थाविशेषाणां च याः धर्मक्रियाः धर्मकर्माणि, तासां कौशलं दाढ्यं येषु तथाभूतेषु कोशलेषु कोशलाख्येषु जनपदेषु। देशवाचकः शब्दो बहुवचनान्तः प्रयुज्यत इति तु प्रायोवादः। मानवमरुत्वता मानवेन्द्रेण मनुना वैवस्वतेन निर्मिता विहिता। कारयन्नपि कर्त्तैव भवतीति भावः। द्वादशयोजनेत्यायामविस्तारनिरूपणे वाल्मीकीयं रामायणं मानम्। इदानीं तु सरय्वाः दक्षिणतीरमुपश्लिष्टा संकुचितैव। अस्याः दक्षिणे संनिहितप्रायैव तमसाख्या सरिन्निर्जलेति। सुराश्च असुराश्च सुरासुराः, तैः। 'येषां च विरोधः शाश्वतिकः' (पा० २।४।९) इति सूत्रस्य तु नायं विषयः। देवासुरविरोधस्य नैमित्तिकत्वात्। अयोध्या योद्धुमनर्हा। अयोध्या नाम अयोध्येति विख्याता। पुरी नगरी। विधेर्ब्रह्मणः कर्मावधिः कार्यसीमा। सर्वासां संपदां निधिः धानी। अस्तीत्यप्रयुज्यमानोऽपि वाक्यबलाल्लभ्यते। तिङ्सुबन्तचयो वाक्यमित्यभिधानात् ॥२६॥

याक्रान्तापि सुरोत्सवैः प्रतिगृहं पावित्र्यसंदानिता
दुर्वर्णाकलितापि यानवरतं चञ्चत्सुवर्णाञ्चिता।
या क्षोणीवलयाश्रितापि विलसन्नानाप्सरोभूषिता
रज्यत्यच्छसुधासितापि परितो या रक्तवर्णोर्जिता ॥२७॥

याक्रान्तेति। या अयोध्या। गृहान् गृहान् प्रति इति प्रतिगृहम्। सुराणां मद्यानाम् उत्सवैः गोष्ठीभिः आक्रान्ता परिगता अपि। पवित्रस्य भावः पावित्र्यं शुचित्वं तेन संदानिता स्यूता। पावित्र्यं च स्वरूपतः हेतुतश्चेति द्विविधम्।

यथा स्वरूपतः शुद्धमपि चाण्डालान्तं हेतुतोऽशुद्धम् । इयं तु उभयतः शुद्धा । सुरासंसर्गेण आपततो दोषस्य परिहारस्तु–सुराणां देवानामिति व्याख्यानेन । या, अनवरतं नित्यम् । दुर्वर्णैः दुष्टवर्णैः आकलिता संश्लिष्टापि । चञ्चद्भिः दीप्तिमद्भिः सुवर्णैः शोभनैः वर्णैः अञ्चिता पूजिता । अत्र दुर्वर्णा सुवर्णा न भवतीति विरोधोद्भावने–दुर्वर्णानि रजतानि, सुवर्णानि स्वर्णानि–इति व्याख्यया तत्परिहारः । या, क्षोण्याः वलयं मण्डलम् आश्रिता संगतापि । विलसन्तीभिः नाना विविधाभिः, अप्सरोभिः स्वर्गवाराङ्गनाभिः । भूषिता अलंकृता । क्षोणिपृष्ठगताः अप्सरसो न भवन्ति, तासां भूतलस्पर्शाभावादिति विरोधोपस्थितौ–विलसद्भिः प्रकाशमानैः, विभिः हंसादिपक्षिभिः लसद्भिः शोभनैरिति वा । नानाप्सरोभिः अनेकैः अप्रधानैः सरोभिः भूषिता–इति तन्निरासः । या, अच्छा निर्मला सुधा पीयूषम्, सेव सिता शुभ्रापि । रक्तो लोहितो यो वर्णो द्रव्यनिष्ठगुणः तेन ऊर्जिता प्राणिता । ऊर्जवलप्राणधारणे । क्तः । शुक्लवर्णा रक्तवर्णा न भवतीति विरोधे अच्छया विमलया सुधया लेपनद्रव्येण–कलीति भाषाप्रसिद्धेन- सिता धवला तथा-रक्ताः अनुरक्ताः वर्णा ब्राह्मणादयः, तैः ऊर्जिता उज्जीविता–इत्येवं विरोधनिराकरणमनुसंधेयम् । सर्वत्र विरोधद्योतकोऽपिः । कविसंप्रदायाद् 'या' इति सर्वनाम्नः आवृत्तिश्च । रज्यति प्रीयते । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥२७॥

लीलालोलमरालबाललुलितव्याकोशकोशाम्बुज–
श्च्योतत्स्फारपरागरागललितं व्यालोलमम्भोभरम् ।
बिभ्राणा तरुणारुणारुणमिव प्रावारमुत्कण्ठिता
यां कल्लोलभुजच्छलेन सरयूरालीमिवालिङ्गति ॥२८॥

लीलेति । लीलया खेलया लोलाः चञ्चलाः मरालानां हंसानां बालाः शावकाः, तैः लुलितानि आलोडितानि, तथा- व्याकोशाः विकचाः कोशाः पुटानि येषां तानि, अम्बुजानि । एषां विशेषणसमासः । तथाभूतेभ्यः अम्बुजेभ्यः श्च्योतन्तः गलन्तः स्फाराः भूयांसः परागाः किंजल्काः तेषां रागेण वर्णेन ललितं सुन्दरम् । व्यालोलं तरलम् अम्भसां भर पूरम् । तरुणः नवीनः अरुणः रविमण्डलम्, तद्वद् अरुणं लोहितं प्रावारम् उत्तरासङ्गम् इव बिभ्राणा बिभ्रती । उत्कण्ठिता कूलगता उत्का च । सरयूः सरयूसरित्, वयस्या च । कल्लोलाः ऊर्मयः एव भुजौ बाहू, तच्छलेन व्याजेन । आलीं सखीमिव । याम् अयोध्याम् । आलिङ्गति आश्लिष्यति । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥२८॥

सुधांशुशोभाजयजागरूकै-
रभ्युन्नतैः स्फाटिकसौधशृङ्गैः ।
हिमाद्रितुङ्गत्वजिगीषयेव
या वर्धते विष्णुपदं श्रयन्ती ॥२९॥

सुधांशिवति । या पुरी । सुधांशोः पीयूषरश्मेः शोभा छविः, तस्याः जये पराभवे, जागरूकैः व्याप्रियमाणैः । 'जागुरूकः' (पा० ३।२।१६५) इति ऊक-प्रत्ययः । अभ्युन्नतैः अभ्रंकषैरित्यर्थः । स्फाटिकैः स्फटिकमणिनिर्मितैः । सुधालेपोऽस्त्येषां सौधानां हर्म्याणाम् । 'ज्योत्स्नादिभ्य उपसंख्यानम्' इति अण् । शृङ्गैः शिखरैः । हिमाद्रेः हिमालयस्य, तुङ्गत्वम् उच्छ्रायः, तस्य जिगीषया जेतुम् इच्छयेव । विष्णुपदम् आकाशम् । मेरुगतं विष्णुपुरं च । विष्णुपुराणवर्णनात् । श्रयन्ती सेवमाना । वर्धते स्फायते । वृध वृद्धौ । ब्रह्म-विष्णु-रुद्रपुराणि मेरावेव वर्णितानि । मेरुस्तु देवभूमितया पुराणेतिहासादौ सुप्रसिद्ध एव । इयमयोध्या तु भुवर्लोकगता । भूलोकस्तु लङ्कादक्षिणभागे । एवं भूर्भुवःस्वः संज्ञकास्त्रयो लोका भूविशेषगता एव मन्तव्याः । महरादिचत्वारो लोकास्तु भूमेरोरुपरिष्टात् । एवं विष्णुपुराणतो वेदितव्याः । यत्तु साकेतगोलोकादिव्यवस्थाऽन्यथान्यथा कल्प्यते सा तु कल्पनैवेति संक्षेपः ॥२९॥

कलाकलापाकलिताकृतीनि
स्थले जले व्योमनि सद्गतीनि ।
यथेष्टवेगानि गृहोपमानि
यानानि यस्यां सततं प्लवन्ते ॥३०॥

कलेति । यस्यां पुरि । कलाः वेदनिर्गतानि अर्थवेदरूढानि विश्वकर्मादि-शिल्पशास्त्राणि, तासां कलापाः उच्चावचविभागाः, तैः आकलिता सुनिरूप्य आपादिताः, आकृतयः अङ्गोपाङ्गघटनावस्थितयः येषां तानि । स्थले भूम्यादौ । जले समुद्रादौ । व्योमनि अन्तरिक्षादौ । इहादिशब्दलभ्यः पर्वत-सरिद्-द्युलोक-लक्षणोऽर्थः समुन्नेयः । तत्र कौवेरं पुष्पकं, राघवं स्यन्दनं लिङ्गमिति संक्षेपः । सत्यः अस्खलिताः गतयः गमनानि येषां तथोक्तानि । यथेष्टं यथाभिलषितं वेगो जवो येषां तानि । गृहाः उच्चावचभूमिकाः उपमा सादृश्यं येषां तानि । यान्ति

एभिः एषु वा इति यानानि पञ्चभूतवैभवारब्धकलायन्त्रादीनि । 'करणाधिकरणयोश्च' (पा० ३।३।११७) इति ल्युट् । सततं नक्तन्दिवम् । प्लवन्ते । प्लुङ् गतौ । इमे उपजाती ॥३०॥

या भाति तर्कविद्येव प्रकाशितनवक्षणा ।
परं गुणिनि वर्वर्ति यत्र शक्तिर्विलक्षणा ॥३१॥

येति । या पुरी । तर्कविद्या तर्कशास्त्रमिव प्रकाशितनवक्षणा आभाति । प्रकाशिताः आयोजिताः नवाः नूतनाः क्षणाः उत्सवाः यस्यां सा । '–अथ क्षणं उद्धर्षो मह उद्धव उत्सवः ।' इत्यमरः । तर्कविद्यापक्षे तु–नव नवसंख्याकाः क्षणाः पाकक्षणाः यस्यां सा । स्पष्टोऽयमर्थः पीलुपिठरपाकवादावसरे–

'तत्रापि परमाणौ स्यात् पाको वैशेषिके नये ।
नैयायिकानां तु नये द्व्यणुकादावपीष्यते ॥'

इत्यादौ । परं यत्र । गुणिनि पौरलोके । विलक्षणा लोकोत्तरा । शक्तिः सामर्थ्यम् । वर्वर्ति वरीवृतीति–इति व्यतिरेकोद्भावनम् । तर्कशास्त्रे तु–शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्यादित्यादि विचारावसरे–'नीलादिपदानां नीलरूपादौ नीलविशिष्टे च शक्तिः कोशेन व्युत्पाद्यते । तथापि लाघवान्नीलादावेव शक्तिः, नीलादिरूपविशिष्टे तु लक्षणैवाङ्गीक्रियते ।' इति । व्याकरणे तु–'गुणवचनेभ्यो मतुपो लुगिष्टः' इति भिन्नैव रीतिराश्रीयते । एवं गुणे शक्तिर्गुणिनि लक्षणा आस्ताम् । अस्यामयोध्यायां तु गुणिनि गुणशालिन्यपि विलक्षणा शक्तिः प्रतीयत इति वाचोयुक्तिमात्रम् ॥३१॥

भूमयो बहिरन्तश्च कान्ताहावपरिष्कृताः ।
अश्रान्तं कम्रगोत्राणां सौहित्यं यत्र कुर्वते ॥३२॥

भूमय इति । यत्र यस्यां पुरि । कान्तैः मनोहारिभिः आहावैः निपानैः । 'आहावस्तु निपानं स्यादुपकूपजलाशये ।' इत्यमरः । परिष्कृताः घटिताः । बहिर्भूमयः । तथा–कान्तानां कामिनीनां हावैः शृङ्गारभावक्रियाभिः, परिष्कृताः भूपिताः । अन्तर्भूमयश्च । यथाक्रमं कम्रगोत्राणां । गवां समूहाः गोत्राः । 'इनित्रकट्यचश्च' (पा० ४।२।५१) इति सामूहिकः त्रः । स्त्रीत्वं लोकात् । टाप् । कम्राः शोभनाश्च ताः गोत्राश्च, तासाम् । कम्राणां कामुकानां गोत्राणि कुलानि तेषाम् । 'कम्रः कामयिता–' इत्यमरः । अश्रान्तम् अनारतम् । सुहितस्य भावः सौहित्यं तर्पणम् । 'सौहित्यं तर्पणं तृप्तिः' इत्यमरः । कुर्वते कुर्वन्ति ॥३२॥

यस्यां च सर्वदासारवन्तोऽन्तर्वर्षागृहा बही रक्षापुरुषाः, विश्वंभरापरागभाजोऽन्तर्बालका बहिर्बाहीकाः, लताङ्गीकृतहार्दाः कुसुमेषुचपलचेतसोऽन्तर्विलासिनो बहिर्मिलिन्दाः, वयोविलासहारिण्यो विटपालिपरायणा अन्तर्वारिण्यो बहिरुपवनवल्लर्यः, मधुपरागवन्ति परागवन्ति रागवन्ति चान्तर्वारभवनाजिराणि बहिः क्रीडाकुञ्जलतान्तराणि ॥२३॥

यस्यां चेति । यस्यां च । अन्तः अभ्यन्तरे–वर्षाणां कलायन्त्रप्रवर्तितानां गृहाः आलयाः । सर्वदा निरन्तरम्, न तु विश्रम्य विश्रम्य; आसारवन्तः धारासंपातशालिनः । 'धारासंपात आसारः' इत्यमरः । बहिः प्राकाराद् बाह्यप्रदेशेषु । रक्षापुरुषाः पालकाः । सर्वदा सारवन्तः बलवन्तः इत्यर्थः । 'सारो बले स्थिरांशे च' इत्यमरः । अन्तः—बालकाः अर्भकाः । विश्वंभरायाः परागान् पांसून् भजन्ति इति विश्वंभरापरागभाजः । धूलिधूसरविग्रहा इत्यर्थः । बहिः बाहीकाः प्राकृताः लौकायतिकाः । बहिषष्टिलोपो ईकक् च । विश्वंभरे भगवति अपरागभाजः । अन्तः विलसन्ति तच्छीलाः–विलासिनः कामुकाः । लतावद् अङ्गानि यासां ताः लताङ्ग्यः । सुकुमारगात्र्य इत्यर्थः । लताङ्गीषु, कृतं विहितं, हार्दं प्रेम, यैस्तै तथोक्ताः । कुसुमेषुणा पुष्पायुधेन, चपल तरलं, चेतः चित्तं, येषां ते; तथाभूताश्च । बहिः–मिलिन्दाः षट्पदाः । लतासु वल्लरीषु, अङ्गीकृतं हार्दं यैस्ते । कुसुमेषु पुष्पेषु । चपलचेतसः दोलायमानमानसाश्च । अन्तः—वारिण्यो मत्त ङ्गनाः । वयसः यौवनस्य, विलासेन कौतुकेन, हारिण्यः हृदयग्राहिण्यः । विटानां भुजङ्गानां, पालौ पङ्क्तौ, परायणाः तत्पराश्च । बहिः—उपवनवल्लर्य आरामवीरुधः । वयसां पक्षिणां, विलासेन क्रीडया, हारिण्यः हृदयंगमाः । विटपानां शाखिविस्तारपल्लवानाम्, आलिषु, परायणा आसक्ताश्च । मधुना, पराः उत्कृष्टाः, अगाः वृक्षाः, मधुपानां रागाश्च । तद्वन्ति । परागाः–किंजल्काः क्रीडापर्वतकाश्च । तद्वन्ति । रागाः-लोहितादयः गीतकानि च । तद्वन्ति । सर्वत्र प्राशस्त्ये मतुप् । नपुंसके बहुवचनम् । अन्तर्बहिश्च समानार्थकम् । वारस्य वेशस्य, भवनाजिराणि गृहाङ्गणानि । क्रीडार्थं यानि कुञ्जानि निकुञ्जानि, तेषां लतान्तराणि व्रतत्यन्तरालानि ॥२३॥

कथमसौ नाकान्नातिरिच्यते—यतोऽमुष्यामुपप्राकारं जिष्णुकोटयः, प्रतिपण्यवीथिकं वज्रोच्चयाः, अनुधात्रि नन्दनवर्गाः, गृहे गृहे रम्भाः, शासने शासने गुरवः, पदे पदे सुधर्माः ॥२४॥

कथमिति। कथमसौ कथंकारमियम्। नाकात् स्वर्गात्। नातिरिच्यते न
ःशिष्यते—यतः-अमुष्यां नगर्याम्। प्राकारस्य वरणस्य समीपे जिष्णूनां
ाटयः। जयन्ति अभिभवन्ति वा जिष्णवः। 'ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः' (पा०३।२।१३६)
ते ग्स्नुः। प्रतिपण्यवीथिकं हट्टविपणिषु। वज्राणां हीरकाणाम्। उच्चयाः पूगाः।
नुमातृकं नन्दनानां वर्गः। गृहे गृहे प्रतिगृहम्। रम्भाः कदल्यः। शासने
ासने गुरवः उपदेष्टारः। पदे पदे प्रतिस्थानम्। सुधर्माः शोभनधर्माः। स्वर्गे
-एको जिष्णुः, एकं वज्रम्, एकं नन्दनम्, एका रम्भा अप्सराः, एको गुरुः,
का सुधर्मा इति पुराणेतिहासतो व्यक्तम्॥३४॥

वापीषु स्फुटितारविन्दनिचया गञ्जासु पानप्रियाः
क्रीडाशैलगुहासु मीननयना वेशेषु वेशाङ्गनाः।
उद्देशेषु सरोवरा उपवनीकुञ्जेषु शृङ्गारिणो
रागं पल्लवयन्ति यत्र नितरां कान्तालिविभ्राजिताः॥३५॥

वापीष्विति। यत्र यस्मिन्नयोध्यापुरे। वापीषु दीर्घिकासु। कान्तैः गुञ्ज-
द्भिः, अलिभिः भ्रमरैः, विभिः हंसादिपक्षिभिश्च, भ्राजिताः दीपिताः। भ्राजृ दीप्तौ।
फुटितानां विकसितानाम् अरविन्दानां निचयाः व्राताः। गञ्जासु मदिरागृहेषु।
ाञ्जा तु मदिरागृहम्' इत्यमरः। कान्तैः अभिमतास्वादैः, अलिभिः मद्यैः, विभ्रा-
जेताः विद्योतिताः। पानप्रियाः पानरसिकाः। क्रीडाशैलानां केलिपर्वतकानाम्।
गुहासु दरीषु। कान्ताभिः स्निग्धाभिः, आलिभिः वयस्याभिः, विभ्राजिताः
ाष्टिताः। मीननयनाः मीनाक्ष्यः। वेशेषु वेशशालासु। कान्तानां दयितानाम्,
आल्या पङ्क्त्या, विभ्राजिताः सभाजिताः। वेशाङ्गनाः वारवधूट्यः। उद्देशेषु
आरामादिक्रीडाप्रदेशेषु। कान्तैः रमणीयैः, आलिभिः सेतुभिः, विभ्राजिताः
यथासंनिवेशं घटिताः। सरोवराः क्रीडातडागप्रवराः। उपवनीकुञ्जेषु उद्यान-
ततागृहेषु। कान्तानां रामाणाम्, आल्या श्रेण्या, विभ्राजिताः परीताः। शृङ्गारिणः
वेलासिनः। नितराम् अत्यर्थम्। रागम् अनुरागम्। पल्लवयन्ति विस्तारयन्ति।
पल्लवशब्दात्—'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिच्। एकं हि विशेषणं षट्सु
वेशेष्येषूपपद्यते॥ शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्॥३५॥

यत्र प्रासादशालामणिमयवलभीसंगताः प्रौढकान्ताः
साकूतं नूतनेन्दीवरमधुररुचीन् गच्छतो वारिवाहान्।

आकृष्यान्योन्यमारात् स्वचिकुरनिकुरान् स्वाङ्गलावण्यलक्ष्मीः
साकं तैश्चञ्चलाभिश्चिरममरवधूसंनिभा भावयन्ति ॥३६॥

यत्रेति । यत्र यस्यां पुरि । प्रासादानां सौधविशेषाणां शालासु गृहविशेषेषु, याः मणिमय्यः रत्नप्रचुराः, वलभ्यः शिरोगृहाः, तत्र संगताः आरूढाः अमरवधूसंनिभाः देवाङ्गनाभिः सदृशाः । प्रौढकान्ताः यौवनोद्धताः युवतयः । अन्योन्यं परस्परम् । साकूतं सोत्प्रासं यथा तथा । नूतनेन्दीवरवत् मधुरा मसृणा रुचिः द्युतिः, येषां तथाभूतान् । आरात् समीपे । गच्छतः नभसि संचरतः । वारिवाहान् जलदान् । हस्तेनाकृष्य । तैः वारिवाहैः साकं सार्धम् । स्वस्य आत्मनः, चिकुरनिकुरान् केशपाशान् । स्वस्य, अङ्गानाम् अवयवानाम् । लावण्यलक्ष्मीः लावण्यस्य सुषमाश्च ।

'मुक्ताफलेषु च्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा ।
प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते ॥' इति ।

तथा–तद्गताभिः चञ्चलाभिः क्षणप्रभाभिश्च । चिरं चिराय । भावयन्ति मिन्वन्ति ॥३६॥

उद्यन्नीलाश्मबद्धक्षितितलविलसद्रश्मिजालप्ररोहान्
प्रत्यग्रोद्भिन्नदूर्वाङ्कुरसहजरुचो वाञ्छतां साभिलाषम् ।
शङ्के भास्वद्धयानां प्लवनघनजवादापतंस्तार्क्ष्यबन्धु
र्यत्रापानूरुभावं कठिनमणिशिलाघातभग्नोरुसंधिः ॥३७॥

उद्यदिति । यत्र यस्यां पुर्याम् । तार्क्ष्यः गरुडः । 'गरुत्मान् गरुडस्तार्क्ष्य-' इत्यमरः । तस्य बन्धुरग्रजःकाश्यपिः । 'सूरसूतोऽरुणोऽनूरुः काश्यपिर्गरुडाग्रजः ।' इत्यमरः । प्रत्यग्रोद्भिन्नाः अभिनवोद्गताः, ये दूर्वाख्यतृणविशेषस्य अंकुराः अभिनवोद्भेदाः । 'काण्डात्काण्डात्प्ररोहन्ती–' इति श्रुतिप्रसिद्धाः । तत्सहजरुचः तत्सोदर्यद्युतीन् । उद्यद्भिः स्फुरद्भिः, नीलाश्मभिः मरकतमणिभिः, बद्धं घटितम्, यत् क्षितितलं भूपृष्ठम्, तत्र विलसन्तः उद्गच्छन्तः, ये रश्मिजालानां मरीचिपुञ्जानाम्, प्ररोहाः कन्दलाः; तान् । साभिलाषं सतर्षम्, यथा तथा । वाञ्छताम् इच्छताम् । भास्वतः सूर्यस्य, हयानां रथाश्वानाम् । प्लवनघनजवात्-प्लवने प्रान्तरातिक्रमणे, यः घनः भूयान् जवः वेगः, तद्वशात् तत्पराभवात् । आपतन् अनाधारम् भ्रश्यन् । कठिनाः कठोराः, याः मणिशिलाः रत्नग्रावाणः,

तत्र यः आघातः निपातः, तेन भग्नः खण्डितः, ऊर्वोः सक्थ्नोः, संधिः संधानं यस्य तथाभूतः सन्। अविद्यमानौ ऊरू यस्य, तस्य भावम्। अनूरुत्वमिति भावः। आप आससाद। इति शङ्के मन्ये।

'मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः॥'

इत्युक्तं दण्डिनः काव्यादर्शे ॥३७॥

फुल्लद्वल्लीमतल्लीवलयितविविधानोकहाहूयमान-
प्रौढध्वान्ताढ्यकुञ्जोदरगतकमनद्वन्द्वनर्मैकसाक्षि।
यस्यामुद्यानवृन्दं मृदुपवनपतत्पुष्पगन्धानुगच्छ-
न्माद्यल्लोलम्बनादद्विगुणितमदनं भुञ्जते भाग्यभाजः ॥३८॥

फुल्लदिति। यस्यां पुरि। भाग्यभाजः सौभाग्यशालिनः। फुल्लन्त्यः स्फुटाः, याः वल्लीमतल्ल्यः प्रशस्तवल्ल्यः। 'प्रशंसावचनैश्च' (पा० २।१।६६) इति समासः। ताभिः वलयिताः वेष्टिताः, विशिष्टा विधा प्रकारो येषां तथाभूताः, ये अनोकहाः शाखिनः, तैः आहूयमानः संचीयमानः, यः प्रौढध्वान्तः गाढान्धकारः, तेन आढ्यं संपन्नं यत् कुञ्जोदरं लतागृहान्तरम्, तद्गतं यत् कमनद्वन्द्वं कामुकमिथुनम्, तस्य नर्मणः एकसाक्षि असाधारणद्रष्टृ। मृदुना कोमलेन, पवनेन वायुना, पतन्ति पतनशीलानि, यानि पुष्पाणि प्रसूनानि, तेषां गन्धं सौरभ्यम्, अनुगच्छन्तः अनुसरन्तः, माद्यन्तः हर्षमाणाः, लोलम्बाः भ्रमराः, तेषां नादैः निःस्वनैः, द्विगुणितः द्वैगुण्यं नीतः, मदनः मन्मथः, यस्मिन् तथोक्तम्। उद्यानवृन्दम् आक्रीडनिकुरम्बम्। भुञ्जते सेवन्ते॥ एतानि स्रग्धरावृत्तानि ॥३८॥

यस्याश्चोत्तरभागे विमलतरतरङ्गरिङ्गत्प्रतिबिम्बैश्चैकर्तनातपतापततयावगाहनाय कृतप्रयासैरिव, माध्यंदिननियमाय तटोपविष्टानां षट्कर्मणामातपापनोदार्थमुद्यद्व्रततितिवितानोपगूढविटपाभोगकैतवेन धृतातपत्रैरिव, उदयास्ताचलमध्यभ्रमणशीलस्य भगवतः सप्तसप्तेः प्रान्तरसंचरातिक्रमणक्लान्तरथ्यपथ्यपाथेयार्थमनूरुशिष्टिसंपादितशष्पकूटशृङ्गैरिव, पादपकदम्बकैरलंक्रियमाणकूला; मदमत्तराजहंसकुलकेलिपरिभ्रान्तपाठीनपुच्छपरिवर्तनावधूतविकचपङ्केरुहपटलाविगलन्मकरन्दबिन्दुसंदोहवासिततोया; अवगाहनावतारितमत्तमातङ्गघटाकपोलपालीश्च्योतन्मदधाराकपा-

यितकल्लोला, विविक्ततटनिहितस्फाटिकपट्टनिविष्टमहर्षिहर्षसमुदीर्यमाणो-पनिषन्निनादमधुरा; स्नानागतवालखिल्यजनजेगीयमानसूक्तस्तवस्तोमा; अभिषेकावतीर्णपौररमणीकुचकुम्भकुंकुमपुञ्जपिञ्जरीक्रियमाणसलिलसंताना, दिव्यदोहददानायातनववधूवरानुगप्रकरपरस्परहर्षस्पर्धावर्धमानसंगीतवादित्रवाचालितपरिसरा; तटनिकटवासिनो भगवतो नागेश्वरस्याट्टहासच्छटेव कूलंकषाकारेणावस्थिता; तत्रभवतोऽरुन्धतीजानेः कीर्तिरिव स्रोतोरूपेण परिणता; पार्वणचन्द्रचन्द्रिकानिष्यन्दधारेव चिरसंचिता; ज्योतीरसवसतिरिव प्रचेतसः; श्वेतचन्दनललाटिकेव भुवः; मुकुरफलिकेव कुबेरककुभः; वैकुण्ठकच्येव कमलोपभोगमुदितमधुसूदननादनन्दिता; वह्रिकाष्ठेव पुण्डरीकमण्डिता; नरवाहनसंसदिव प्रकटशङ्खपद्ममकरकच्छपा; सभङ्गाप्यभङ्गा; वसिष्ठतनया भगवती सरयूर्वहति ॥ ३८॥

यस्या इति । यस्याः दक्षिणायाश्च । उत्तरभागे उत्तरस्यां दिशि । सरयूः तन्नाम्नी सुप्रसिद्धा नदी । वहति समुच्छलतीति व्यवहितेनान्वयः । किं विशिष्टा सेत्यपेक्षायाम्—

विमलतरतरङ्गेषु शुद्धोर्मिषु, रिङ्गन्ति मूर्छन्ति, प्रतिबिम्बानि प्रतिच्छायाः येषाम्, तथाभूतैः । वैकर्तनातपस्य सौरोद्योतस्य, तापेन संज्वरेण, तप्ततया प्लुष्टतया । अवगाहनाय मज्जनाय । कृतप्रयासैः विहितप्रयत्नैः, इव । माध्यंदिननियमाय माध्याह्निकानुष्ठानाय । तटोपविष्टानां तीरे निषण्णानाम् । षट्कर्मणाम्—षट् कर्माणि वेदाध्ययनाध्यापनादीनि येषां तेषाम्—अग्रजन्मनाम् । आतपापनोदार्थं निदाघवारणाय । उद्यद्भिः, व्रततीनां वल्लरीणां—वितानैः विस्तारैः उपगूढानां वेष्टितानां विटपाभोगानां काण्डशाखापल्लवपत्रपुष्पफलसंपदां—कैतवेन व्याजेन । धृतातपत्रैः गृहीतच्छत्रैः, इव । उदयास्ताचलयोः मध्ये भ्रमणशीलस्य । भगवतः सप्तसप्तेः सप्ताश्वस्य । प्रान्तरसंचरस्य दूरशून्यस्याध्वनः, अतिक्रमणेन उल्लङ्घनेन क्लान्ताः श्रान्ताः, ये रथ्याः रथस्य वोढारः अश्वाः । 'तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्' (पा० ४।४।७६) इति यत् । पथ्यं हितम्, यत् पाथेयं पथि साधु । 'पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्' (पा० ४।४।१०४) इति ढञ् । तदर्थम् । अनूरोः सूरसूतस्य, शिष्टेः आज्ञया, संपादितैः संचितैः, शष्पकूटानां बालतृणपुञ्जानाम्, शृङ्गैः

शिखरैः, इव। पादपकदम्बकैः वृक्षव्रातैः। अलंक्रियमाणानि भूष्यमाणानि, कूलानि तीराणि यस्याः, तथाभूता। मदेन मत्तानि, यानि राजहंसानां हंसविशेषाणाम्, कुलानि यूथानि, तेषां केलिभिः क्रीडाभिः, परिभ्रान्ताः ये पाठीनाः मत्स्यभेदाः, तेषां पुच्छपरिवर्तनेन पुच्छान्दोलनेन, अवधूतानि कम्पितानि यानि विकचानि स्फुटितानि, पङ्केरुहाणां पङ्कजानां पटलानि, तेभ्यः विगलतां क्षरताम्, मकरन्दविन्दूनां संदोहैः, वासितानि अधिवासितानि, तोयानि यस्याः तथोक्ता। अवगाहनाय मज्जनाय, अवतारिताः हस्तिपकैः प्रापिताः, याः मत्तमातङ्गघटाः गन्धगजयूथानि, तासां कपोलपालीभ्यः गण्डस्थलीभ्यः। 'प्रशंसावचनैश्च' (पा० २।१।६६) इति समासः। श्च्योतन्तीभिः क्षरन्तीभिः, मदधाराभिः दानलेखाभिः, कषायिताः तिक्ताः, कल्लोलाः ऊर्मयः यस्याः तथोक्ता। विविक्ते विजनपूते, तटे निहितः निक्षिप्तः, यः स्फाटिकपट्टः स्फटिकशिलातलम्, तत्र निविष्टाः उपविष्टाः, ये महर्षयः, तैः हर्षेण समुदीर्यमाणानां स्वरव्यक्तिपुरस्सरं पठ्यमानानाम् उपनिषदां निनादैः रावैः, मधुरा रुचिरा। स्नानाय आगताः, ये वालखिल्यजनाः मुनिविशेषाः, तैः जेगीयमानाः पापठ्यमानाः, सूक्तस्तवानां स्तोमाः समुदायाः यस्याम्, तथाभूता। अभिषेकाय अवगाहनाय, अवतीर्णाः कृतावतरणाः, याः पौराः पुरभवाः रमण्यः, तासां कुचकुम्भयोः। 'स्तनादीनां द्वित्वविशिष्टा जातिः प्रायेण' (वामसू. १।५।१७ इति वामनः। कुङ्कुमपुञ्जेन कश्मीरजन्यकेशरपरागस्तोमेन, पिञ्जरीक्रियमाणः सलिलसंतानः वारिपूरः यस्याः, तथाभूता। 'पिञ्जरः पीतरक्ताभः' इति। दिव्यदोहददानार्थम् आयाताः, ये नववधूवरयोः अनुगप्रकराः सहचारिवर्गाः, तेषां परस्परहर्षस्पर्धाभिः वर्धमानैः संगीतैः–

'धातुमातुसमायुक्तं गीतमित्युच्यते बुधैः।
तत्र नादात्मको धातुर्मातुरक्षरसंचयः ॥'

इत्यादिनिरूपितैः। वादित्रैः ततानद्धशुपिरघनादिभिः आतोद्यपदाभिलप्यैः, वाचालितः मुखरितः, परिसरः यस्याः, तथाभूता। तटनिकटवासिनः समीपवसतेः। भगवतः सकलसिद्धिसद्मनः। नागेश्वरस्य तदाख्यज्योतिर्लिङ्गस्य। '···नागेशं दारुकावने।' (शिवपु० ज्ञानसं० ३८ अ० १६ श्लो०) इति पुराणवचनात्। अट्टहासच्छटेव हसितराशिरिव। कूलंकषाकारेण नदीरूपेण। अवस्थिता। हासः श्वेत इति कविसमयः। तथा चोक्तं साहित्यदर्पणे सप्तमपरिच्छेदे–

'मालिन्यं व्योम्नि पापे, यशसि धवलता वर्ण्यते हासकीर्त्यो
रक्तौ च क्रोधरागौ, सरिदुदधिगतं पङ्कजेन्दीवरादि ।'

इत्यादि । तत्रभवतः पूज्यस्य । अरुन्धतीजानेः वसिष्ठस्य । कीर्तिरिव समज्ञेव । स्रोतोरूपेण प्रवाहाकारेण, परिणता । पार्वणस्य पार्विकस्य, चन्द्रस्य इन्दोः, चन्द्रिकानिष्यन्दधारेव ज्योत्स्नाप्रवाहपारम्परीव । चिरसंचिता चिराय राशीकृता । ज्योतीरसस्य स्फटिकमणेः, वसतिः अवस्थानम्, इव । प्रचेतसः वरुणस्य । श्वेतचन्दनस्य मलयजस्य, ललाटिका ललाटभूषणम्, इव । 'कर्णललाटात्कनलंकारे' (पा० ४।३।२५) इति कन् । भुवः भूदेव्याः । मुकुरफलिकेव दर्पणबिम्बमिव । कुबेरककुभः धनददिशः । दिशो विभुत्वेन सर्वगतत्वेऽपि विन्ध्याद्रेरवधिकल्पनया तथात्वाख्यानम् । वैकुण्ठस्य, कक्ष्येव प्रासादप्रकोष्ठ इव । कमलायाः इन्दिरायाः उपभोगेन; अन्यत्र, कमलानां वारिरुहाम्, उपभोगेन संचरणेन, मुदितः प्रसन्नः यः मधुसूदनः नारायणः, परत्र, ये मधुसूदनाः मधुलिहः, तन्नादेन, नन्दिता समृद्धा । वह्निकाष्ठा आग्नेयीदिग्, इव । पुण्डरीकेण तन्नाम्ना दिक्कुञ्जरेण; अन्यत्र, पुण्डरीकैः सिताम्भोजैः, मण्डिता भूपिता । नरवाहनस्य धनदस्य, संसत् सभा, इव । प्रकटाः आविर्भूताः, शङ्ख-पद्म-मकर-कच्छपाख्याः निधिविशेषाः यस्याम्, तथाभूता । परत्र, प्रकटाः रिङ्गन्तः, शङ्खाः पद्मानि, मकराः कच्छपाः, तदाख्यवस्तूनि यस्याम् तथोक्ता । सभङ्गा भङ्गं प्राप्ता, अभङ्गा भङ्गेन रहिता, न स्याद् । अपिः विरोधे । परिहारे तु—भङ्गैः तरङ्गैः सह वर्तमाना सभङ्गा । अथ अभङ्गा, गङ्गायमुनादिरिव नानोपद्रवेण वर्जिता । वसिष्ठस्य तनया वासिष्ठीति जह्नोर्जाह्नवीव पुराणेतिहासप्रसिद्धा । अत्र मामकं पद्यम्—

'अश्रान्तं तव संनिधौ निवसतः कूलेषु विश्राम्यतः
पानीयं पिबतः क्रियां कलयतस्तत्त्वं परं ध्यायतः ।
उद्यत्प्रेमतरङ्गभंगुरदृशा वीचिच्छटां पश्यतो
दीनत्राणपरे ! ममेदमयतां वासिष्ठि ! शिष्टं वयः ॥३॥' (सरयूसुधा)

इति । भगवती रूपान्तरग्रहणक्षमा, न तु वारिरूपैव ॥३९॥

मज्जन्नागरनायिकाकुचघटीसंघट्टभग्नीभव—
त्पुष्प्यत्सारवशुक्लकृष्णकमलारण्यस्य पत्रव्रजः ।
जङ्घालो मरुता निरन्तरमहो यो व्योम्नि संकीर्यते
मुग्धास्तं कलयन्ति तारकततीप्रत्युप्तनीलाम्बरम् ॥४०॥

मज्जन्नागरेति । मज्जन्तीनाम् अवगाहमानानाम्, नागरनायिकानां पौररमणीनाम्, कुचघटीसंघट्टेन स्तनकलशावमर्देन, भग्नीभवन्ति त्रुट्यन्ति,

पुष्यन्ति विकस्वराणि, सारवाणि सरय्वां भवानि, यानि शुक्लकृष्णकमलानि पुण्डरीकेन्दीवराणि, तेषाम् अरण्यस्य काननस्य। पत्राणां दलानाम्, व्रजः व्रातः। जङ्घालः वेगवान्, अर्थात् मरुता दिक्षु विदिक्षु विक्षिप्तः ! यः व्योम्नि मरुता निरन्तरं संकीर्यते विकीर्यते। मुग्धाः भ्रान्ताः। तं तारकानां नक्षत्राणाम्, ततीभिः पङ्क्तिभिः, प्रत्युप्तं घटितम्, नीलाम्बरं नीलं नभः। कलयन्ति जानन्ति। अहो आश्चर्यम्। शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ॥४०॥ इति पुरीवर्णनम्।

तामध्युवास रुचिरां कुलराजधानीं
भूवासवो दशरथः श्रुतपारदृश्वा।
लेभे यमात्मजतया जगदुद्दिधीर्पु-
र्नारायणः प्रकृतिपूरुषयोः परस्तात् ॥४१॥

तामिति। भुवः भूपृष्ठस्य, वासवः इन्द्रः। श्रुतानां शास्त्राणां, पारम् अन्तं दृष्टवान्। दृशेः क्वनिप्। 'दशरथः' इत्याख्यः, दिलीपस्य प्रपौत्रः, रघोः पौत्रः, अजस्य पुत्रः। तां वर्णिताम्। रुचिरां मनोरमाम्। कुलस्य मन्वादिसंतानस्य, राजधानीं राजशासनास्थानीम्। अध्युवास अधिवसतिस्म। 'उपान्वध्याङ्वसः' (पा० १।४।४८) इति आधारस्य कर्मत्वम्। प्रकृतिः मूलप्रकृतिः, पूरुषः साक्षी।

'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥' (सांख्यका०३.)

इत्यादिना व्युत्पादितौ प्रकृति-पुरुषपदार्थौ, तयोः। परस्तात् परः। सर्वपुरुषयोनिरित्यर्थः। जगतो लोकस्य, उद्दिधीर्षुः। उत्पूर्वाद् दधातेः सन्नन्ताद् उप्रत्ययः। नारायणः–

'आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥'

इत्युक्तः। आत्मजतया अपत्यत्वेन। यं सुकृतिनं दशरथम्। लेभे प्राप्तवान्। स्वेच्छयैव नान्यजनसाधारण्येन। यं लब्ध्वा प्रादुर्बभूव इति तात्पर्यम्। वसन्ततिलकावृत्तम्। उक्तं च पिङ्गलसूत्रे–

वसन्ततिलका तभौ जौ गौ।' (पिङ्गलसू० अ० ७।८)

यस्य पादे तकारभकारौ जकारौ गकारौ च तद्वृत्तं वसन्ततिलकेत्युच्यत इत्यर्थः। एवमग्रेऽपि ॥४१॥

येनान्वभाषि भुवनान्तरजृम्भमाण-
कीर्तिप्रतापभरसौरभभास्वरेण ।
अस्तोपसर्गमधिकर्द्धि समृद्धभावं
राजप्रजाप्रणयबन्धननन्दनश्रीः ॥४२॥

येनेति । भुवनान्तरेषु लोकान्तरेषु, जृम्भमाणौ जागरूकौ, यौ कीर्तिप्रतापौ यश ओजसी, तयोः भरः प्राग्भारः, स एव विमलावदानजन्यतया सौरभं सौगन्ध्यम्, तेन भास्वरेण प्रकाशमानेन । भासतेः कर्तरि वरच् । येन दशरथेन । अस्ताः नष्टाः, उपसर्गाः, यस्मिन् कर्मणि । तथा अधिका अभिलापातिशायिनी, ऋद्धिः संपत् यस्मिन् कर्मणि । तथा समृद्धाः उदाराः, भावाः पदार्थाः, यस्मिन् कर्मणि । तद् यथा स्यात् तथा । राज्ञः रञ्जकस्य स्वामिनः, प्रजानां प्रकर्षेण जायमानानाम्, यत् प्रणयबन्धनं परस्परप्रीतिशृङ्खला, तदेव नन्दनं महेन्द्रोद्यानम्, तस्य श्रीः इव श्रीः, काचित् सौभाग्यलक्ष्मीः । अन्वभाषि अनुपूर्वाद् भाषेः कर्मणि लुङ् ॥४२॥

यस्यौजस्तपनः सपत्नसुदृशामाविश्य चेतस्यरं
तत्रत्यां सुखसाधनीं सरसतां संशोष्य चक्रे पुनः ।
नेत्रद्वारपतत्पयोभरमिषाद्वर्षोदयं तादृशं
यं वीक्ष्य स्मितहंसमण्डलमगान्मुञ्चत्तदास्याम्बुजम् ॥४३॥

यस्येति । यस्य राज्ञो दशरथस्य । ओजः प्रताप एव तापकत्वात् तपनः उष्णधामा । सपत्नसुदृशां वैरिस्त्रीणाम् । अरं द्रुतम्, चेतसि मानसे । आविश्य संक्रम्य । तत्रत्यां तत्रभवाम् । सुखसाधनीं संतोषावहाम् । सरसतां सारस्यम् । संशोष्य खिलीकृत्य । पुनः-नेत्रद्वाराभ्याम् अक्षिवर्त्मभ्याम्, पततो गलतः, पयोभरस्य अश्रुप्रवाहस्य, मिषाद् व्याजात् । तादृशं तथाभूतम् । वर्षोदयं जलदागमम् । चक्रे कृतवान् । यं वीक्ष्य अवलोक्य । तासां सपत्नसुदृशाम्, आस्याम्बुजं मुखारविन्दम् । मुञ्चत् जहत् । स्मितमेव हंसमण्डलं मरालकुलम् । अगात् अयासीत् । इणो लुङि गाङादेशे रूपम् ॥४३॥

नाविद्वान्न शठो न कैतवपरो नाम्नायसिद्धान्तभि-
न्नानेकागमभेदभिन्नहृदयो न द्रोहदग्धाशयः ।

नो सत्कारपराङ्मुखो न विधुरो लोको व्यलोकि क्वचि-
द्यस्मिन्नात्मजनिर्विशेषमवनीनाथे प्रजा रक्षति ॥४४॥

नेति । यस्मिन् दशरथे । अवनीनाथे वसुधाधिपे । आत्मजेभ्यः अपत्येभ्यः, निर्गतः विशेषः तरतमभावो यस्मिन् कर्मणि तद् यथा स्यात् तथा । प्रजाः जनान् । रक्षति पालयति सति । क्वचित् क्वापि राष्ट्रे । अविद्वान् अज्ञः । लोकः न व्यलोकि नो ऐक्षि । एवं क्वचित् शठः—

'प्रियं वक्ति पुरोऽन्यत्र विप्रियं कुरुते भृशम् ।
व्यक्तापराधचेष्टश्च शठोऽयं कथितो बुधैः ॥'

इति विष्णुपुराणोक्तलक्षणलक्षितः । एवम्—

'मनसा वचसा यश्च दृश्यते कार्यतत्परः ।
कर्मणा विपरीतश्च स शठः सद्भिरुच्यते ॥'

इति शब्दार्थचिन्तामणिनिरूपितश्च लोको न । कितवस्य खलस्य कर्म कैतवम् । तत्र परः परायणो लोको न । आम्नायस्य निगमागमस्य, सिद्धान्तम् उपादेयप्रमेयम्, भिनत्ति खण्डयति, इति आम्नायसिद्धान्तभिद् लोको न । तथा च रामायणम्—

'तस्य संदिदिहे बुद्धिर्मुहुः सीतां निरीक्ष्य च ।
आम्नायानामयोगेन विद्यां प्रशिथिलामिव ॥' इति ।

अनेकेषां नानाप्रकाराणाम्, आगमानां शास्त्राणां, भेदैः प्रक्रियाभेदैः, भिन्नं भेदं प्राप्तम्, दोलायमानमिति यावत् । हृदयं मानसं यस्य तादृक् लोको न । द्रोहेण जिघांसया, दग्धः हतः आशयो वासना यस्य तथोक्तः लोको न । सत्कारः आगतस्वागतम् । तच्च—

'तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता ।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥' इत्यवधिकः ।

तत्र पराङ्मुखो विरतव्यापारो लोको न । इहेदं तत्त्वम्—

'प्रियप्राया वृत्तिर्विनयमधुरो वाचि नियमः
प्रकृत्या कल्याणी मतिरनवगीतः परिचयः ।
पुरो वा पश्चाद् वा तदिदमविपर्यासितरसं
रहस्यं साधूनामनुपधि विशुद्धं विजयते ॥'

इति। विधुरो इतिकर्तव्यताविकलो लोको न। 'व्यलोकि' इति सर्वत्रान्वेति ॥४४॥

यस्मिंश्च चक्रवर्तिनि प्रकृतिं पालयति, छलप्रसङ्गो न्याये, न व्यवहारे; पदार्थकल्पनालाघवं वैशेषिके, न प्राघुणिकसत्कारे; विकारोदयः सांख्ये, न संख्यावन्मानसे; प्राणनिग्रहो योगे, न नियोगे; आर्थीभावना मीमांसायाम्, न नैष्ठिकेषु; मायावादो वेदान्ते, न प्रजासु; प्रत्ययलोपो व्याकरणे, न प्रतिज्ञातप्रदाने; परगुणच्छेदो ज्याचापगणिते, न वाकोवाक्ये; अलंकाराकलनं साहित्ये, नात्त्वदर्शके; कृष्णचरितं पुराणे; न नागरेऽप्यावि ॥४५॥

यस्मिन्निति। यस्मिंश्च दशरथे। चक्रे भूमण्डले राजमण्डले वर्तितुं वा चक्रं सैन्यं वर्तयितुं शीलमस्येति चक्रवर्ती। 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' (पा० सू० ३।२।७८) अवश्यं चक्रं वर्तयतीति तु—आवश्यके णिनिः। तस्मिन् चक्रवर्तिनि सार्वभौमे। प्रकृतिं प्रजामण्डलं पालयति रक्षति सति। छलस्य चतुर्दशस्य पदार्थस्य, प्रसङ्गः प्रसञ्जनम्। न्याये प्रमाणादिषोडशपदार्थीप्रतिपादके गौतमोपज्ञे दर्शने। न व्यवहारे-अष्टादशधा विभक्ते व्यवहारपदे छलं कपटमिति। पदार्थानां पारिभाषिकाणां कल्पनया लाघवं तन्त्रान्तरापेक्षया गौरवनिरासः। वैशेषिके सप्तपदार्थीप्रतिपादके कणादोपज्ञे दर्शने। न प्राघुणिकानाम् आगन्तुकानां सत्कारे शुश्रूषायां पदस्य व्यवसितादेः अर्थस्य धनस्य कल्पनायां योजने लाघवं संकोच इति। विकारस्य षोडशकगणस्य उदयः उद्गमः सांख्ये कपिलोपज्ञे दर्शने। न संख्यावतां पण्डितानां मानसे हृदयक्रोडे विकारस्य कामादिषड्र्मिविकृतेरुदय इति। प्राणानाम् असूनां निरोधो योगे पातञ्जलदर्शने। न नियोगे राजकीयाज्ञायां प्राणानां निग्रहो बाध इति। आर्थी लिङाद्युपस्थाप्या भावना प्रवर्तना मीमांसायां त्रयीव्यवस्थापकशास्त्रे जैमिनिसंकलिते। न नैष्ठिकेषु ब्रह्मचारिविशेषेषु आर्थी धनसंबन्धिनी भावना चिन्तेति। मायायाः वादः अवतारः अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतदित्यादिप्रक्रियाप्रपञ्चिते वेदान्ते उपनिषत्प्रमाणे शास्त्रे पाराशर्यसंकलिते। न प्रजासु प्रकृतौ मायया वादो व्यवहारकल्पनेति। प्रत्ययस्य स्वादेः लोपः अदर्शनं व्याकरणे पाणिनितन्त्रे। न प्रतिज्ञातस्य वस्तुनः प्रदाने वितरणे प्रत्ययस्य विश्वासस्य लोपः खिलीकार इति। परगुणः राशित्रयस्य

ज्याछेदो हरः। परगुणच्छेद इति व्यवहारो ज्योतिषसिद्धान्तस्कंधे सूर्यसिद्धान्तादौ। न वाकोवाक्ये उक्तिप्रत्युक्तिप्रस्तावे परेषां पराणां वा गुणानां छेदः खण्डनमिति। अलंकाराणां शब्दार्थोभयलक्षणानां भावकरणव्युत्पन्नानाम् आकलनं मीमांसनं साहित्ये काव्यप्रकाशादिसाहित्यशास्त्रे। न अक्षदर्शके व्यावहारिकपदे अलं कारायाः बन्धनालयस्य कलनम् अभियुक्तकृते विवेचनमिति। कृष्णस्य भगवतो देवकीनन्दनस्य चरितमितिवृत्तं पुराणे ब्राह्मादौ। न नागरे पौरे कस्यचिदपि कृष्णं मलीमसं चरितं वृत्तमिति। 'अश्रावि' इति प्रत्येकमन्वेति। शृणोतेः कर्मणि लुङ् ॥४५॥

यस्य च कनकलतिकेव न कठोरा, तारकेव न वासरधूसरा, क्षणप्रभेव न क्षणप्रभा, तरङ्गिणी लावण्यपूराणां, जन्मजगती मदनविभ्रमाणां, चन्द्रशाला सुकृतविलासानां, रोहणस्थली पातिव्रत्यमाणिक्यानां, कौसल्या कैकेयी सुमित्रेति परस्परानुग्रहा वेदत्रयीव धामत्रयीव लोकत्रयीव महिषीत्रय्यासीत्।

यस्येति। यस्य च राज्ञो दशरथस्य। कनकलतिकेव स्वर्णवल्लीव न कठोरा न कठिना शरीरतः स्वभावतश्च। कनकलतिका तूभयतस्तादृशीति व्यतिरेकः। एवं तारकेव न वासरधूसरा, केवलं नक्तमेव जाग्रती अपितु नक्तंदिवं प्रकाशमाना। क्षणप्रभेव चपलेव न क्षणप्रभा किंतु स्थिरकान्तिः। तरङ्गिणी स्रोतस्वती, लावण्यं प्राग्व्याख्यातं तत्पूराणां प्रवाहाणाम्। जन्मजगती उत्पत्तिस्थानं मदनविभ्रमाणां मन्मथविलासानाम्। चन्द्रशाला शिरोगृहं सुकृतविलासानां पुण्यपरिष्काराणाम्। रोहणस्थली जन्मभूमिः। पतिः व्रतं अस्याः पत्यौ व्रतं अस्या इति वा पतिव्रता। सा च--

'आर्तार्ते मुदिता हृष्टे प्रोषिते मलिना कृशा।
मृते म्रियेत या पत्यौ साध्वी ज्ञेया पतिव्रता॥
सुप्ते पश्चाच्च या शेते पूर्वमेव प्रबुध्यते।
नान्यं कामयते चित्ते सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता॥'

एवंभूता। तस्याः भाव एव माणिक्यानि रत्नविशेषाः तेषाम्। कोसलस्य राज्ञः अपत्यं स्त्री कौसल्या। 'वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ञ्यङ्' (पा० सू० ४।१।१७१) 'यङश्चाप्' (पा० सू० ४।१।७४) सूत्रनिर्देशात् कोसलशब्दो दन्त्यसकारमध्यः।

केकयस्य राज्ञोऽपत्यं स्त्री कैकेयी । 'जनपदशब्दात्क्षत्रियादञ्' (पा० सू० ४।१।१६८) 'केकयमित्रयुप्रलयानां यादेरियः' (पा० सू० ७।३।२) 'टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः' (पा० सू० ४।१।१५) इति ङीप् । सुमित्रा शोभनं मित्रं यस्याः सेति समासः । शोभनेन मित्रेण सहितेति वा । शोभनत्वं च दाम्पत्यरूपेण मधुरसंबन्धेन इति । परस्परेषां परस्परेषु वा अनुग्रहः यस्याः तथाभूता । वेदानां ऋग्यजुःसामाथर्वणां त्रयीव । त्रयोऽवयवाः ऋग्यजुःसामलक्षणाः यस्याः सा त्रयी । आथर्वणेऽपि रचनात्रैविध्यस्य सत्त्वान्नाव्याप्तिरिति सूक्ष्मेक्षिकया द्रष्टव्यम् । धाम्नां सौरचान्द्रमसाग्नेयानां त्रयीव । लोकानां भूर्भुवः स्वर्लक्षणानां भूम्यन्तरिक्षदिव्यानां वा श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धानां त्रयीव । महिषीणां कृताभिषेकाणां त्रयी । आसीत् । अस्तेः कर्तरि लङ् । अभवत् ॥४६॥

यथासमयमुपासितामपि निष्फलव्यवसितां गार्हस्थ्यगर्हामयीमिव महिषीत्रयीं चिन्तयमाने चिन्तापरिष्यन्दमन्दिमानमुपेयुषि पुत्रार्थमश्वमेधक्रतुमाचरितुकामे भूशतक्रतौ मन्त्रिमतल्लिका सुमन्त्रोऽमुष्मै—

'देव ! किमुत्ताम्यसि, अवग्रहग्रहनिगृहीतेषु राज्ञो रोमपादस्य जनपदेष्वङ्गेषु सुधाधारानुकारया वृष्टिसृष्ट्या दृष्टब्रह्मवर्चसमहिम्नः शान्तासखस्य विभाण्डकसूनोर्ऋष्यशृङ्गस्य प्रभावेण तव पुत्रा जनिष्यन्ते ।'

इति भगवत्सनत्कुमारकथितं पुराणवृत्तं कथयांचक्रे । सोऽपि सुमना यियक्षन् वसिष्ठशिष्ट्याऽनैष्ट रोमपादजामातरं सशान्तादारं वैभाण्डकिं महातेजसमयोध्यामलंकृताम् ॥४७॥

यथेति । यथासमयं यथा ऋतुकालम् । उपासितां निषेविताम् अपि । निष्फलम् अदृष्टप्रसवं व्यवसितं प्रयतनं यस्यां तथोक्ताम् । गृहस्थस्य कर्म गार्हस्थ्यं तदेव शोच्यत्वात् गर्हा, तन्मयीमिव । महिषीणां राज्ञीनां त्रयीम् । चिन्तयमाने अनुशोचति । चिन्ता अनपत्यताजन्यव्यथेत्यर्थः । तस्याः परिष्यन्देन प्रस्रवणेन मन्दिमानं मन्दताम् । उपेयुषि गतवति । पुत्रार्थं संतानाय । अश्वमेधक्रतुं तदाख्यं श्रौतमध्वरम् । आचरितुम् अनुष्ठातुं कामो यस्य तादृशे । भूशतक्रतौ महीन्द्रे । मन्त्रिमतल्लिका प्रशस्तो मन्त्री । सुमन्त्रः अन्वर्थनामा । अमुष्मै दशरथाय—

देव ! महाराज ! किं किमर्थम् । उत्ताम्यसि खिद्यसे । अवग्रहो वृष्टिप्रतिबन्धः स एव ग्रहः व्यथकः, तेन निगृहीतेषु ग्रस्तेषु । राज्ञो रोमपादस्य तदाख्यनृपतेः । जनपदेषु देशेषु । अङ्गेषु तदाख्येषु । सुधाधारानुकारया पीयूषपूरप्रतिमया । वृष्टिसृष्ट्या वर्षासर्गेण । दृष्टः परीक्षितः, ब्रह्मवर्चसस्य ब्राह्मण्यस्य, महिमा प्रभावः, यस्य तादृशः । शान्तासखस्य शान्तापतेः । विभाण्डकसूनोः विभाण्ड-काख्यमहर्षिपुत्रस्य । ऋष्यशृङ्गस्य ऋष्यशृङ्गनाम्नो महर्षेः । प्रभावेण शुभाशंसनेन तव भवतः । पुत्राः सूनवः । जनिष्यन्ते उत्पत्स्यन्ते ।'

इति इत्थंभूतम् । भगवता सनत्कुमारेण ब्रह्मतनयेन कथितम् आदिष्टम् । पुराणवृत्तं चिरंतनवृत्तान्तम् । कथयांचक्रे वर्णितवान् । सोऽपि दशरथः । सुमनाः तद्वृत्तश्रवणेन सुमनाः हर्षमाणः । यियक्षन् यष्टुमिच्छन् । वसिष्ठशिष्ट्या कुल-गुरोर्वसिष्ठस्याज्ञया । रोमपादस्य जामातरम् ऋष्यशृङ्गम् । रोमपादो हि ऋष्य-शृङ्गप्रभावादभिमतां वृष्टिं समधिगत्य परितुष्टः तस्मै महर्षये स्वात्मजां शान्तां दत्तवानिति कथा रामायणादितोऽनुसंधेया । सशान्तादारं शान्तया दाराभिः सह वर्तमानम् । वैभाण्डकिं विभाण्डकस्यापत्यम् ऋष्यशृङ्गम् । महातेजसं लोकोत्तर-प्रभावम् । अयोध्यां पुरम् अलंकृतां तदागमनहर्षेण परिष्कृताम् । अनैष्ट आनीत-वान् ॥४७॥

ततश्च यथावसरं प्रत्यग्रोत्फुल्लपृथुलकमलिनीपटलाटोपपाटलायमा-नवाटिकापर्यन्ते, नूतनोन्निद्रसहकारमञ्जरीमधुरसास्वादमुदितमधुकरपुञ्ज-गुञ्जितदिङ्मुखे, नैकविधविटपिविटपाभोगनिर्यत्पुष्पपरागपरीतसंचरे, विकचकुसुमसौरभासारनीरन्ध्रितरोदसीके, वसन्तावतारे, सरयूत्तरतीरे यथाकल्पपरिक्लृप्तायां, प्रयत्नोपकल्पितवैतानिकसामग्रीसंभृतायां, सगौर-ववितीर्यमाणवस्तुजातायां, यथाक्रमसंपाद्यमानसवनसंतानायां, व्याप्रिय-माणर्त्विक्प्रकाण्डायां, जाज्वल्यमानाऽग्निशरणायाम्, एकविंशतियूपो-च्छ्रायायां, यथाशासनानीताश्वरत्नपुरस्सरं पशुपरिष्कृतायां, यज्ञभूमौ, भगवद्वसिष्ठऋष्यशृङ्गादेशमनुवर्तमानो गृहीतदीक्षः सपत्नीको विरराज महाराजः ॥४८॥

तत इति । ततश्च अनन्तरम् । यथावसरं यथासमयम् । प्रत्यग्रोत्फुल्लाः

नवविकासाः, या पृथुलाः बहलाः, स्थलकमलिन्यः स्थलस्य भूपृष्ठस्य कमलिन्यः पद्मिन्यः, तासां यत् पटलं स्तोमः, तस्य आटोपेन बंहिम्ना, पाटलायमानः श्वेतरक्तायमानः, वाटिकापर्यन्तो यस्मिंस्तथाभूते । नूतनोन्निद्राः नवनवोन्मेषाः, ये सहकाराः आम्रविशेषाः, तेषां साराः सर्वस्वभूताः, याः मञ्जर्यः कुसुमोद्गमाः, तासां मधुरसास्वादेन मकरन्दपानेन, मुदिताः मत्ताः, ये मधुकराः मधुलिहः, तेषां पुञ्जेन प्रकरेण, गुञ्जितानि दिङ्मुखानि यस्मिंस्तथाभूते । नैकविधाः नानाप्रकाराः, ये विटपिनां शाखिनां, विटपाभोगाः शाखादिविभवाः, तेभ्यो निर्यन्तः निर्गच्छन्तः ये पुष्पपरागाः कुसुमरजांसि, तैः परीतः संकुलः, संचरो मार्गो यस्मिंस्तथोक्ते । विकचानि विकसितानि, यानि कुसुमानि प्रसूनानि, तेषां सौरभासारेण सौगन्ध्यतरङ्गेण, नीरन्ध्रिता व्याप्ता, रोदसी द्यावापृथिव्योर्वपुः यस्मिंस्तथाभूते । वसन्तस्य पुष्पसमयस्य सुरभेः, अवतारे प्रादुर्भावे । सरय्वाः उत्तरतीरे सौम्यतटे । यथाकल्पं श्रौतसूत्रानुसारं, क्लृप्तायां संपादितायाम् । प्रयत्नैः प्रकृष्टव्यापारैः, उपकल्पिता घटिता, या वैतानिकी याज्ञिकी, सामग्री वस्तुसंभारः, तया संभृतायां परिपूर्णायाम् । सगौरवं सादरं, तत्तत्कर्मणि वितीर्यमाणं प्रतिपाद्यमानं, वस्तुजातं पदार्थसार्थो यस्यां तथोक्तायाम् । यथाक्रमं यथाकल्पं, संपाद्यमानः अनुष्ठीयमानः, सवनसंतानः यस्यां तथोक्तायाम् । तत्तत्क्रियासु व्याप्रियमाणाः नियुज्यमानाः ऋत्विक्प्रकाण्डाः प्रशस्ताः ऋत्विजः यस्यां तथोक्तायाम् । जाज्वल्यमानं प्रकाशमानम्, अग्निशरणम् अग्निशाला यस्यां तस्याम् । एकविंशतिः श्रौतवर्त्मना एकविंशतिसंख्याकानि यानि यूपानि काष्ठस्तम्भविशेषाः, तेषाम् उच्छ्रायः उच्छ्रितिः यस्यां तस्याम् । यथाशासनं यथाशास्त्रम्, आनीतम् आहृतम्, अश्वरत्नं तादृशलक्षणलक्षितः अश्वः, पुरस्सरः अग्रेसरः, यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा । पशुभिः कल्पोक्तैः अनेकैः परिष्कृतायां विशिष्टायाम् । यज्ञभूमौ अध्वरभुवि । भगवतोः वसिष्ठऋष्यशृङ्गयोः, आदेशम् आज्ञाम्, अनुवर्तमानः अनुरुन्धानः । गृहीता स्वीकृता, दीक्षा संयमविशेषः, येन तथाभूतः । सपत्नीकः सपाणिगृहीतीकः । महाराजः दशरथः । विरराज विरेजे ॥४८॥

ततश्च क्रमतः—

"कौशल्या तं हयं तत्र परिचर्य समन्ततः ।
कृपाणैर्विशशासैनं त्रिभिः परमया मुदा ॥
पतत्त्रिणा तदा सार्धं सुस्थितेन च चेतसा ।
अवसद्रजनीमेकामव्यग्रा धर्मकाम्यया ॥

होताध्वर्युस्तथोद्गाता हयेन समयोजयन् ।
महिष्या परिवृत्त्याथ वावातामपरां तथा ॥
पतत्त्रिणस्तस्य वपामुद्धृत्य नियतेन्द्रियः ।
ऋत्विक्परमसंपन्नः श्रपयामास शास्त्रतः ॥
धूमगन्धं वपायास्तु जिघ्रतिस्म नराधिपः ।
यथाकालं यथान्यायं निर्णुदन् पापमात्मनः ॥
हयस्य यानि चाङ्गानि तानि सर्वाणि ब्राह्मणाः ।
अग्नौ प्रास्यन्ति विधिवत् समस्ताः षोडशर्त्विजः ॥"

(इत्यार्षपट्कम्) ॥४६॥

ततश्चेति । ततश्च क्रमतः वैधक्रमेणेत्यर्थः । इदानीं जैनबौद्धकल्पानां पिष्टपशुकल्पकानां ज्ञानाञ्जनशलाकायमानं वाल्मीकीयमार्षषट्कमवतारयति— 'कौशल्येत्यादिना षोडशर्त्विजः ॥' इत्यन्तेन ।

'पर्यग्निकृतानारण्यान् उत्सृजत्यहिंसाया' इति श्रौतसमयाचारात् आरण्यान् पशून् पर्यग्निकृतानुत्सृज्य शामित्रे विशसनकर्मणि ग्राम्याणां पशूनां यथाशास्त्रं नियोजनानन्तरमिति पूर्वेण संबन्धः । कौसल्या महिषी शामित्रप्रदेशे तं मृताश्वं समंततः परितः, परिचर्य समन्त्रकं प्रदक्षिणाप्रदक्षिणं संचार्य, कृपाणैः तिसृभिः सौवर्णीभिः सूचिभिः, एनं अश्वं परमया मुदा निरवधिकश्रद्धया विशशास संज्ञपयामास । तदा विशसनोत्तरकाले, कौसल्या धर्मकाम्यया धर्मसिद्धिसंपादनेच्छया । काम्यजंतादकारप्रत्यये टाप् । अव्यग्रा शवस्पर्शजनितमनोविकारशून्या पतत्त्रिणा अश्वेन सार्धं साकं एकां रजनीं रात्रिम् अवसत् अवात्सीत् । अयं भावः– तत्तन्मन्त्रोच्चारपूर्वकं महिषी यथाविधि अश्वमुपसंगम्य प्रजनने प्रजननं संनिधायोपविष्टा । ततोऽध्वर्युः क्षौमेन वाससा महिषीमश्वं च प्रच्छादितवान् । सा च रेतोधानमन्त्रमामृशन्ती आग्नीध्रे जागरणं कुर्वती निशां निनाय । होता, अध्वर्युः, उद्गाता, तथेतिपदेन ब्रह्मणोऽप्युपसंग्रहः । महिष्या कौसल्यया परिवृत्त्या एतत्पदपरिभाषितया उपेक्षितया च साकं वावातां भोगिनीं अपरां पात्रप्रदां पालाकलीं च राज्ञो दक्षिणार्थं परिगृह्य हस्तेन समयोजयन् रमणवत् पाणिग्राहमगृह्णन् । तथा च सूत्रम्–

'महिषीं ब्रह्मणे ददाति, वावातां होत्रे, परिवृक्तिमुद्गात्रे, पालाकलीमध्वर्यवे ।' इति । एतदुत्तरं आसां निष्क्रयद्रव्यदानेन पुनरादानं विधीयत इति संक्षेपः । आसां निरुक्तिस्त्वेवम्–

'कृताभिषेका महिषी परिवृक्तिरुपेक्षिता ।
वावाता भोगिनी पात्रप्रदा पालाकली मता ॥'

तस्य पतत्त्रिणो अश्वस्य । 'पतत्त्रिपक्षितुरगावित्यमरः' । वपां वपास्थानीयां तेजनीं 'नाश्वस्य वपा विद्यते' इति सूत्रात् । उद्धृत्य आदाय, नियतेन्द्रियः नियतं अव्यग्रं आन्तरं बाह्यं च इन्द्रियं यस्य तथाभूतः, परमसंपन्नः परमेण प्रयोगादिसहकृतेन चातुर्येण संपन्नः वित्तः, ऋत्विक् याजकः, शास्त्रतः शास्त्र-विहितेन विधिना, श्रपयामास पपाच । 'श्रा पाके' इत्यतः कर्तरि लिट् । ततो वपाहोमकाले नराधिपः मण्डलेश्वरो दशरथः, यथाकालं होमकालमनतिक्रम्य, यथान्यायं यथाशास्त्रं, आत्मनः पापं ज्ञाताज्ञातोभयरूपं संततिप्रतिबन्धकरं निर्णुदन् निवर्तयन्, हुतायाः वपायाः धूमगन्धं गन्धोद्गारिधूमसंतानं, जिघ्रतिस्म अजिघ्रत् । वपाहोमानन्तरं अङ्गहोमे चिकीर्षिते षोडशर्त्विजः षोडशसंख्याकाः ब्राह्मणयाजकाः, विधिवत् यथाविधानं हयस्य सर्वाण्यङ्गानि मन्त्रोच्चारपूर्वकं अग्नौ यज्ञीयाग्नौ प्रास्यन्ति होस्यन्ति । 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वेति' लटः प्रयोगः । सर्वाणीत्यनेन सर्वस्य हुतत्वेन शेषभक्षणं नास्तीति सूचितम् । अङ्गहोम-फलं त्वेवं श्रूयते–

'अंगे अंगे वै पुरुषस्य पाप्मपोपश्लिष्टः, अंगादंगादेवैनं पाप्मनस्तेन मुंचतीति ।' यजमानस्य सर्वमपि पापं निवर्तत इत्याशयः ।

यत्तु सांप्रतं कतिपये महेच्छाः हिंसाशब्दश्रवणमात्रादेवोद्विग्नाः श्रुति-स्मृति-समयाचारसिद्धामपि याज्ञिकीं पशुहिंसां प्रतिक्षिपन्तः पिष्टपशुवर्त्मना व्यवहर्तु-मीहन्ते, युक्तितदाभासविजृम्भितैश्च प्राक्तनीं मर्यादां विपरिवर्तयितुमुत्सहन्ते त इह मन्त्र-ब्राह्मण-सूत्र-मीमांसादिरहस्यमुग्धतया कथमिव नोपालभ्याः । नहि प्राणि-हिंसाहेतुकत्वादेव क्विमपि परिवर्जनीयतया प्रामाण्यकक्षामधिरोहति । एवं 'अग्नीषोमीयं पशुमालभते ।' (तै० सं० ६ कां० १ प्रपा०, ११ अनु०) तथैतत्सहधर्मिण्यः 'सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालभेत ।' 'कपिञ्जलानालभेत ।' इत्येवंजातीयकाः श्रुतयोऽन्यथा योजयितुं शक्यन्ते । शास्त्रविरोधात् यथारुचि-नियमासंभवात्, अनाश्वासप्रसङ्गाच्चेति सर्वं यथायथं परीक्षणीयम् । न च

'माणवकस्य हृदयमालभते' इत्यादि दर्शनेन तथा श्रुत्यभिप्रायः पिष्टपशुर्वेति वक्तुं पार्यते। 'अग्नये छागस्य हविषो वपाया मेदसः प्रेष्य अनुब्रूहि वा' इत्यत्र 'प्रेष्यब्रुवोर्हविषो देवतासंप्रदाने (पा० सू० २।३।६१) इति सूत्रभाष्यादिनापि छागरूपस्य पशोरेव संज्ञपनस्य सिद्धत्वात्। किंच, 'अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्।' (ब्रह्मसू० अ० ३।२५) इति वेदान्तसूत्रमप्यत्रार्थे संवादमादधत् विभावनीयमिति दिक्।

स समापितमहामखः प्राचीं होत्रे, प्रतीचीमध्वर्यवे, उदीचीमुद्गात्रे, अवाचीं ब्रह्मणे च प्रादात्। ते तु न वयं स्वाध्यायाचरणप्रवणा अरण्यशरणा धरणीं शासितुमीश्महे। तदेषा भवतैव शिष्यताम्। अस्मभ्यमदसीयनिष्क्रयभूतं यत्किंचित्कल्प्यताम् इति सानुरोधमवादिषुः। तथोदितश्च साक्षात्कृतमन्त्रेभ्यस्तेभ्यो गवां जातरूपाणां रूपाणां च कोटीरितरेभ्योऽपि यथाकामं प्रकामं वसु प्रदायाप्रीयत ॥५०॥

स इति। स दशरथः। समापितः पारनीतः, अश्वमेधाख्यो महामखो महाध्वरो येन तादृक्। प्राचीम्-अयोध्यां केन्द्रीकृत्य प्राग्भूभागम्। होत्रे हौत्रकर्मानुष्ठात्रे ऋग्वेदविदे। प्रतीचीं प्रत्यग्भूभागम्। अध्वर्यवे आध्वर्यवकर्मानुष्ठात्रे यजुर्वेदविदे। उदीचीम् उत्तरभूभागम्। उद्गात्रे औद्गात्रकर्मानुष्ठात्रे सामवेदविदे। अवाचीं दक्षिणभूभागं च। ब्रह्मणे ब्रह्मकर्मानुष्ठात्रे सर्ववेदविदे आथर्वणिकाय। प्रादात् स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं प्रायच्छत्। ते प्रधानभूताः होत्रादयः चत्वारः ऋत्विजस्तु। वयमेते स्वाध्यायाचरणेषु स्वस्वशाखाकलनेषु प्रवणाः परायणाः, अरण्यशरणाः वनवासिनः। स्वाध्यायसरक्षणार्थमेव विविक्तवसतय इत्यर्थः। धरणीम् अवनीं शासितुं पालयितुं न नो ईश्महे प्रभवामः। तत् तस्माद् एषा धरणी, चिराय परिचितेन भवता त्वयैव शिष्यताम् पाल्यताम्। अस्मभ्यम् ऋत्विग्भ्यः। अमुष्याः इदम् अदसीय निष्क्रयभूतं मूल्यत्वेन परिकल्पितम्। यत्किंचिद् वस्तु कल्प्यताम् निरूप्यताम्। इति इत्थं सानुरोधं सप्रतिबन्धम्। अवादिषुः अकथिषुः। तथोदित उक्तश्च। साक्षात्कृतमन्त्रेभ्यः स्वायत्तीकृतमन्त्रप्रतिपाद्येभ्यः। तेभ्यः ऋत्विग्भ्यः। गवां गोतल्लजानां, जातरूपाणां स्वर्णानां, रूपाणां रूप्याणां च कोटीः संख्याविशेषान्। इतरेभ्यः होत्रादिसहायभूतेभ्यः अन्येभ्योऽपि, यथाकामं यथेष्टं, प्रकामं भूरि, वसु द्रव्यं, प्रदाय वितीर्य, अप्रीयत अतुष्यत् ॥५०॥

पुनश्च विनयशालीनेन तेन पुत्रकाम्यया प्रार्थितः स भगवानृष्यशृङ्गोऽथर्वशिरोमन्त्रैः पुत्रीयामिष्टिमकार्षीत्। अहो! महर्षेः प्रभावः कियत् श्लाघ्यताम्। यत्र मन्त्रव्याहारप्रादुर्भवद्देवताप्रसाददर्शनेन शब्दपूर्विका सृष्टिरिति वेदवादः पप्रथे। हंहो इयतापि तावत्कथमिव न चित्रीयामहे, यदेतस्या इष्टेः पर्यवसानेन अपरिच्छिन्नोऽपि परिच्छिन्न इव कश्चिदिन्दीवरदाममञ्जिमा महिमाऽजनिष्ट ॥५१॥

पुनश्चेति। पुनश्च अपिच विनयशालीनेन नम्रेण तेन राज्ञा पुत्रकाम्यया संतानेच्छया प्रार्थितः निवेदितः स दृष्टमहिमा भगवान् षडैश्वर्यसंपन्नः ऋष्यशृङ्गः। अथर्वशिरोमन्त्रैः सद्यःफलप्रदैः अथर्ववेदोक्तैःसंतानप्रवर्तकैर्मन्त्रैः पुत्रीयां पुत्रफलिकाम्, इष्टिं यागविशेषम्। अकार्षीत् अकृत। अहो! इत्याश्चर्ये। महर्षेः ऋष्यशृङ्गस्य। प्रभावः तपोबलम्। कियत् इयत्तया कथमिव श्लाघ्यताम् प्रशस्यताम्। यत्र इष्टौ, मन्त्रव्याहारेण मन्त्रपाठेन, प्रादुर्भवन्त्यः प्रकटीभवन्त्यः, याः देवताः मन्त्रप्रतिपाद्याः, तासां प्रसाददर्शनेन प्रसन्नतावलोकनेन। शब्दपूर्विका सृष्टिः–'भूरिति व्याहरन् भुवं ससर्ज' इत्यादिलक्षणा। इति वेदवादः वैदिकसिद्धान्तः, स्फुटं व्यक्तम्, प्रपथे प्रथितो बभूव। हंहो इत्याश्चर्ये। इयता एतावतापि। तावद् वाक्यालंकारे। कथमिव किमिव, न नो चित्रीयामहे विस्मयामहे। यदेतस्या इष्टेः, पर्यवसानेन परिणामेन, अपरिच्छिन्नोऽपि अमेयोपि, परिच्छिन्नो मेय इव, कश्चिद् अनिर्वचनीयः। इन्दीवराणां नीलाम्बुरुहां, दाम्नः स्रजः इव, मञ्जिमा सौन्दर्यं, यस्य तादृक्। महिमा प्रभावः। अजनिष्ट अजनि ॥५१॥

अत्रान्तरे दशमुखेन निपीड्यमाना
दावानलेन विकला इव जीवसंघाः।
देवाः सरोरुहभुवं पुरतो विधाय
नारायणं नलिनलोचनमेतदूचुः ॥५२॥

अत्रान्तर इति। अत्रान्तरे अस्मिन्नेव यज्ञसमये। दश मुखानि आननानि, अङ्गविकारत्वात् यस्य सः तेन। निपीड्यमानाः बाध्यमानाः। देवाः इन्द्रादयः। दावानलेन दवाग्निना। दवदावौ तु वनवह्नौ वनेऽप्युभौ–इति मेदिनी। विकला व्याकुलाः जीवसङ्घाः इव। पशुप्राया इत्यर्थः। सरोरुहाद् भवतीति सरोरुहभूः

पद्मयोनिः । 'भुवः संज्ञान्तरयोः' (पा० सू० ३।२।१७६) इति कर्तरि क्विप् । तम् । पुरतः अग्रे । विधाय कृत्वा । नलिनलोचनं पुण्डरीकाक्षम् । नारायणं विष्णुम् । एतद् वक्ष्यमाणम् । प्रधानकर्म । ऊचुः कथयामासुः ॥५२॥

त्रैलोक्यनायक ! विरञ्चिवरप्रभावाद्
दुःखाकरोति वहुधाद्य स रावणोऽस्मान् ।
तेनात्मसत्त्वमपहाय विहायसं च
वर्तामहे वयमितस्तत आधिमन्तः ॥५३॥

त्रैलोक्येति । हे त्रैलोक्यनायक ! हे विश्वंभर ! अद्य इदानीम् । विरञ्चिः ब्रह्मा । ब्रह्मेत्युपलक्षणम् । शिवोऽपि । तस्य वरप्रभावात् प्रसादमहिम्नः । सः पौलस्त्यः वैश्रवणः रावणः । लोकान् रावयति-इति क्रियया विश्वध्रुक् । अस्मान् वहुधा सहस्रधा । दुःखाकरोति पीडयति । 'दुःखात्प्रातिलोम्ये' (पा० सू० ५।४।६४) इति डाच् । तेन हेतुना वयम्, आधिः मानसपीडा, तद्वन्तः । आत्मनः सत्त्वं वीर्यम् । अपहाय त्यक्त्वा । विहायाः स्वर्गः तं च अपहाय । आत्मसत्त्वमिहापि अन्वयनीयम् । इतस्ततः यत्र तत्र । वर्तामहे जीवामः ॥५३॥

त्वं शासकः सकलशासनकारकाणां
त्वं पालकः खलनिपीडनकातराणाम् ।
त्वं स्थापकः श्रुतिनिरूपितपद्धतीनां
यत्र प्रयाणनिरता न खलु स्खलन्ति ॥५४॥

त्वमिति । हे भगवन् ! त्वं भवान् । सकलानि समग्राणि यानि शासनानि, निग्रहानुग्रहरूपाणि, तेषां कारकाणां कर्तॄणाम्, अपि शासकः नियन्ता । असि । एवं च निमित्तमात्रेण उपेन्द्रसंज्ञां श्रयन् इन्द्रादिवाधकस्य त्वमेवानन्यशरण इति लभ्यते । त्वं भवान् । खलाः दुरात्मानः, तेषां निपीडनेन वाधनेन, कातराणाम् अधीराणाम्, पालकः रक्षकः । असि । एतत्तु गुणप्राधान्येन तवैव कर्मेति । त्वं भवान् । श्रुत्या वेदेन, निरूपिताः व्यवस्थापिताः, याः पद्धतयः मार्गाः, तासां स्थापकः व्यवस्थापकः । असि । एतदपि पूर्वोक्ताम्रेडनं, तत् स्तुतौ शोभनम् । यत्र वेदागमपद्धतिषु, प्रयाणनिरताः गमनपरायणाः, न खलु नैव, स्खलन्ति पतन्ति ॥५४॥

एकोऽपि तात्त्विकदृशा भुवनेश ! भूयो
भूयोभिरागमवचोभिरनेककोटिम् ।
आसादयन् नवनवाङ्कुरमेयभङ्ग्या
वाग्विभ्रमे भ्रमयसे प्रतिभाधिरूढान् ॥५५॥

एक इति । हे भुवनेश ! हे जगन्नाथ ! । त्वं तात्त्विकदृशा परमार्थदृष्ट्या । एकः केवलोऽपि । भूयः पुनः । भूयोभिः बहुविधैः । आगमवचोभिः शास्त्रवाक्यैः । अनेककोटिम् नानाप्रथाम् । आसादयन् प्राप्नुवन् । प्रतिभाम् अधिरूढान् वैतण्डिकान् । वाचां वाणीनां, विभ्रमे विकल्पे । नवनवाः नवप्रकाराः, अङ्कुराः उन्मेषाः येषु, तथाभूताः ये मेयाः प्रमेयाः, तेषां भङ्ग्या कोटिपरिष्कृत्या । भ्रमयसे मोहयसे ॥५५॥

पुंजातधर्मविधुरोऽपि विशिष्य ताव-
न्मायां वशामतिरसादिव गूहमानः ।
ब्रह्माण्डसंततिममूमसृजस्तदेत-
त्को वेद कोशपिहितं तव नाथ ! तत्त्वम् ॥५६॥

पुंजातेति । हे नाथ ! हे स्वामिन् ! । त्वम् । पुंसि जाताः ये धर्माः कर्तृत्वभोक्तृत्वादयः, तैः विधुरो हीनोऽपि । निर्गुणत्वादिति भावः । तावद् वाक्यालंकारे । अतिरसादिव बलवद्भोगगार्ध्यादिव । वशां स्वाधीनाम् । मायां प्रकृतिम् । विशिष्य गूहमानः आश्लिष्यन् । अमूम् एताम् । ब्रह्माण्डम् एव संततिः, ताम् । असृजः उत्पादितवानसि । पुंधर्मेण विकलः अर्थात् षण्ढोऽपि वशां वन्ध्यां मायाम् आश्लिष्य यद् ब्रह्माण्डमकार्षीः इति तात्पर्यम् । तदेतत् कोशपिहितं कोशाच्छादितम् । तैत्तिरीयप्रतिपादिताः अन्नमयादि पञ्च कोशाः वेदान्तप्रसिद्धा एव । तव भवतः । तत्त्वम् रहस्यम् । को वेद वेत्ति । न कोऽपीत्यर्थः ॥५६॥

हृत्कन्दराश्रयिणि बिभ्रति धर्ममेघ-
भावं भवत्यमृतवर्षिणि विश्वशिल्पिन् ! ।
व्याजृम्भमाणचितिशुक्तिनिरर्गलश्री-
रभ्येति मौक्तिककलामणुबिन्दुरेपः ॥५७॥

हृदिति । हे विश्वशिल्पिन् विश्वस्थपते ! हृदेव कन्दरा गुहा, तदाश्रयिणि । मानसगुहाधिष्ठातरीत्यर्थः । धर्ममेघभावं पातञ्जलप्रतिपादितं धर्ममेघत्वम् । बिभ्रति बिभ्राणे । अमृतवर्षिणि अमृतमुचि । भवति त्वयि जागरूके । एपः अयम् । अणुविन्दुः आणवादिमलेन संकुचत्प्रसरः । व्याजृम्भमाणा विकस्वरा, या चितिः चिदेव शुक्तिः मुक्तास्फोटः, तत्र निरर्गला संकोचविगलनेन स्वच्छन्दा श्रीः सुपमा यस्य तादृशः सन् । मौक्तिककलां जीवन्मुक्तिदशाम् । अभ्येति प्राप्नोति । आणवादिमलत्रयं तु-

'गोपितस्वमहिम्नोऽस्य संमोहाद्विस्मृतात्मनः ।
यः संकोचः स एवास्मिन्नाणवो मल उच्यते ॥१॥
षट्कञ्चुकव्याप्तिवशाद्विलोपितनिजस्थितेः ।
भूतदेहस्थितिर्यासौ मायीयो मल उच्यते ॥२॥
यदन्तःकरणाधीनबुद्धिकर्मेन्द्रियादिभिः ।
वहिर्व्याप्रियते कार्मं मलमेतस्य तन्मतम् ॥३॥'

इत्युक्तमाचार्यश्रीवामदेवपादैः ॥५७॥

क्रोधानलक्कथितदैवतसिद्धसाध्यः
सोऽबाध्य एव सकलस्य मनुष्यवर्जम् ।
तस्मात् प्रभो ! दशरथात्मजतामुपेत्य
सद्यो विधेहि दशकण्ठवधेऽवधानम् ॥५८॥

क्रोधेति । क्रोध एव दाहकत्वात् अनलः ज्वलनः, तेन क्वथिताः विशीर्णाः । क्वथे निष्पाके-क्तः । दैवतानि सिद्धाः साध्याश्च येन तथोक्तः । सः रावणः । अन्वर्थनामा । मनुष्यवर्जं मनुष्यं वर्जयित्वा । सकलस्य समस्तस्य । अबाध्यः बाधनानर्हः एव । हे प्रभो ! स्वैरिन् ! । तस्माद् हेतोः दशरथस्य राज्ञः, आत्मजतां पुत्रभावम् । उपेत्य प्राप्य । सद्यः शीघ्रम् । दशकण्ठस्य दशग्रीवस्य, वधे हनने अवधानं प्रणिधानं विधेहि कुरुष्व । 'दशकण्ठवधे काव्ये अवधानं विधेहि' इति ध्वन्यते ॥५८॥

भूमण्डले वयमपि द्रुतमेव युष्म-
त्सेवाकृते विविधयोनिषु संभ्रमामः ।

यत्र प्रकाशमधिगच्छति कल्पवृक्ष-
स्तत्रैव सर्वविभवा हि परिस्फुरन्ति ॥५६॥

भूमण्डल इति । हे प्रभो ! वयमपि, युष्मत्सेवाकृते युष्माकमाराधनाय । भूमण्डले भूतले । द्रुतमेव झटित्येव । विविधयोनिषु नानायोनिषु । यथोपयोगं संभवामः उत्पत्स्यामहे । हि यस्मात्, यत्र कल्पवृक्षः प्रकाशमधिगच्छति उदेति । तत्रैव सर्वविभवाः सर्वे उपयुक्ताः भावाः । परिस्फुरन्ति उद्यन्ति ॥५६॥

इत्युक्तवत्सु दिविषत्सु स दीनबन्धु-
र्नीलाचलोद्गतहिमांशुरुचिस्मिताभिः ।
पीयूषवर्षमधुराभिरुदारगीर्भि-
राश्वास्य तान्विधुरितान्नयनातिगोऽभूत् ॥६०॥

इतीति । इति इत्थम् । उक्तवत्सु कथितवत्सु । दिविषत्सु द्युसत्सु । सः दीनानां दुर्विधानाम् । बन्धुः बान्धवः । तान् दिविषदः । विधुरितान् विह्वलान् । नीलाचलात् मरकताद्रेः, उद्गतः उदितः, यः हिमांशुः हिमकरः, तस्य रुचिवत् कान्तिवत्, स्मितं यासु तादृशीभिः । पीयूषवर्षवत् सुधावृष्टिवत् मधुराभिः श्रवणपेयाभिः । उदारगीर्भिः प्रशस्तवाग्भिः । आश्वास्य संतोष्य । नयनातिगः अन्तर्हितः । अभूत् अजनिष्ट । एतानि नव वसन्ततिलकावृत्तानि ॥६०॥

ततो वैतानाद् वैश्वानरादुद्भूतो विश्वग्विसारिदीप्तिदीप्तः विग्रहवान् विभावसुरिव, नूतनस्तनयित्नुसच्छायकायो नवजवाकुसुमकान्तिवसनः प्रभाकरबिम्बशिशिरारुणरागरञ्जितमरकतशिखरीव लोहितोष्ठपल्लवः, किसलयितरोदसीशकलसंधिरिव स्निग्धहर्यक्षरोमसोदरश्मश्रुमूर्धजः, सौदामनीदामदन्तुरितघनाघनाभोग इव दिव्याभरणसंवीतः, सुरासुरसंघर्ष इव सुलक्षणोऽपि विलक्षणः, दुन्दुभिस्वानगभीरया गिरात्मानं प्राजापत्यं पुरुषं शंसन्, वराभयस्तम्भाभ्यामिव दोर्भ्यां योगाहितसंकोचां, भुवनाण्डप्रतिकृतिमिव दिव्यपायसपरिपूर्णां स्वर्णपात्रीम्, पुत्रीयते विनीताय दशरथाय वितीर्य तिरोधात् ॥६१॥

तत इति । ततः अनन्तरम् । वैतानाद् वैश्वानराद् यज्ञाग्नेः । उद्भूतः संजातः । विष्वग्विसारिणीभिः सर्वतो विसृत्वराभिः, दीप्तिभिः प्रभाभिः दीप्तः । विग्रहवान् मूर्तः । विभावसुर्वह्निरिव । नूतनः नवः, यः स्तनयित्नुः बलाहकः, तेन सच्छायः समानकान्तिः कायः मूर्तिः यस्य तादृक् । नवजवाकुसुमवद् वसनं वासः यस्य सः । अरुणवासा इत्यर्थः । अतएव शिशिरारुणः शिशिरकालिको यः उषाद्योतः, तस्य रागेण रञ्जितो विच्छुरितः मरकतशिखरी नीलाद्रिरिव । स्थित इत्यर्थः । लोहितौ रक्तवर्णौ ओष्ठपल्लवौ यस्य सः । अतएव प्रभाकरबिम्बेन सूर्यमण्डलेन किसलयिता पल्लविता या रोदसी, तस्याः शकलसंधिः खण्डसंधानमिव । स्थित इत्यर्थः । स्निग्धं मसृणं यद् हर्यक्षस्य केसरिणः रोम. तत्सोदराः श्मश्रुमूर्धजाः यस्य तादृक् । अतएव सौदामनीदाम्ना विद्युल्लेखया दन्तुरितः संजातदन्तो घनाघनाभोगो मेघाडम्बर इव । स्थित इत्यर्थः । दिव्यैः आभरणैः अलंकारैः संवीतः भूषितः । पक्षे दिव्याभः रणो यस्मिन् इति । सुरासुराणां संघर्षः संमर्दः । शोभनानि लक्षणानि यस्य तादृक् विलक्षणः लक्षणहीनः न भवतीति विरोधः । अपूर्व इति तत्परिहारः । दुन्दुभिस्वानगभीरया दुन्दुभिराधीरया-इत्यर्थः । गिरा वाचा । आत्मानं स्वम् । प्राजापत्यं पुरुषं पुमांसं शंसन् सूचयन् । वराभययोः स्तम्भाभ्याम् इव । दोर्भ्यां बाहुभ्याम् । योगेन योगविभूत्या, आहितः निहितः संकोचो यस्यां तादृशीम् । भुवनाण्डस्य प्रतिकृतिं प्रतिमानमिव । दिव्येन अलौकिकेन पायसेन चरुणा परिपूर्णां संभृताम् । स्वर्णपात्रीं सुवर्णभाण्डम् । पुत्रीयते पुत्रमिच्छते । विनीताय नम्राय । दशरथाय राज्ञे । वितीर्य दत्त्वा । तिरोधात् अन्तरधात् ॥६१॥

सोऽपि दरिद्रो रत्नखनिमिव तामवाप्यानन्दसंदोहतरङ्गितो वीतसंतापशल्यायै कौशल्यायै ततः पायसार्धम्, उदञ्चन्मोदमात्रायै सुमित्रायै तदर्धादर्धम्, प्रमदमय्यै कैकेय्यै तदवशिष्टादर्धम्, पुनरनर्घ्यचरित्रायै सुमित्रायै तदवशिष्टार्धमपि प्रायच्छत् ॥६२॥

सोऽपीति । सोऽपि राजा । दरिद्रः निस्वः । रत्नखनिमिव मणिरोहणस्थलीमिव । तां पायसस्वर्णपात्रीम् । अवाप्य । आनन्दसंदोहतरङ्गितः आह्लादमग्न इत्यर्थः । वीतो निर्मूलः, संतापः अनपत्यतालक्षणः एव शल्यो यस्याः सा तस्यै कौशल्यायै । ततः स्वर्णपात्र्याः पायसार्धम् । उदञ्चन्ती उच्छलन्ती, मोदमात्रा आनन्दातिशयः, यस्याः तस्यै । सुमित्रायै तदर्धादर्धम् । प्रमदः हर्षः प्रस्तुतः

अस्यां सा प्रमदमयी। तत्प्रकृतवचने मयट्, ङीप्। तस्यै कैकेय्यै तदवशिष्टादर्धम्। पुनः भूयः। अनर्घ्यं अमूल्यं चरित्रं पातिव्रत्यं यस्याः तस्यै, सुमित्रायै तदवशिष्टार्धमपि प्रायच्छत् प्रादात् ॥६२॥

ता नरेन्द्रदयिता निराधयो
भाविभावुकनिषण्णमानसाः ।
पुत्रहेतुरिति बृंहितादरं
प्राश्य पायसमतीव रेजिरे ॥६३॥

ता इति। ताः कौशल्याप्रभृतयः। भाविनि भविष्यति, भावुके मङ्गले, निषण्णम् आरूढम्, मानसं मनः, यासां ताः। नरेन्द्रस्य राज्ञो दशरथस्य दयिताः प्रियाः। पुत्रहेतुः पुत्रकारणमिति। बृंहितः उपोद्बलितः, आदरः यस्मिंस्तादृशम्। पायसं पूर्वलक्षणं पयोविकारविशेषम्। प्राश्य भुक्त्वा। निर्गताः निर्मूलिताः, आधयः मानसव्यथाः यासां तथाभूताः सत्यः। अतीव अत्यर्थम्। रेजिरे शुशुभिरे ॥६३॥

भेजिरेऽथ तनुतः प्रभावतो
गौरवं किमपि ताः समन्ततः।
प्रेयसा त्रिदशराजबन्धुना
यत्र दोहदविधाः सुपूरिताः ॥६४॥

भेजिर इति। अथ ताः समन्ततः समन्तात्। तनुतः शरीरेभ्यः। प्रभावतः प्रभावेभ्यः। किमपि अनिर्वचनीयम्। गौरवं गुरुभावम्। भेजिरे आसेदुः। यत्र यस्मिन् काले। त्रिदशानां राजा महेन्द्रः, बन्धुः सखा यस्य तथोक्तेन। प्रेयसा तासां प्रियतमेन। दोहदानां विधाः प्रकाराः। सुपूरिताः प्रवाहिताः। न हीन्द्रसख्ये त्रिलोक्यां किमपि दुर्लभमिति भावः। इमे रथोद्धतावृत्ते ॥६४॥

चैत्रशुक्ले नवम्यां तिथावादितेयर्क्षके
कर्कलग्ने तुषारांशुवागीश्वराधिष्ठिते;
तुङ्गयातेषु खेटेषु पञ्चस्वपास्ताखिलो-
त्पातसंतानसंबन्धगन्धाङ्क रेऽनेहसि ॥

रामभद्रेति रम्येण पुण्येन नाम्ना मुहुः
सत्कवीनां वचोवल्लरीः स्फारमुद्वेल्लयन्;
सर्वमानन्दयन् शर्म संचारयन् साध्वसं
भञ्जयन् मङ्क्षु सोऽसावि कौशल्यया श्रीहरिः ॥६५॥

चैत्रेति। सः श्रीहरिः। चैत्रशुक्ले नवम्यां तिथौ। आदितेयर्क्षके पुनर्वसुनक्षत्रे। तुषारांशुवागीश्वराभ्यां चन्द्रगुरुभ्याम् अधिष्ठिते कर्कलग्ने। पञ्चसु खेटेषु ग्रहेषु। तुङ्गयातेषु उच्चस्थितेषु। अपास्ताः निरस्ताः, अखिलाः समग्राः, ये उत्पातसंतानाः भौमदिव्यान्तरिक्षरूपाः, तेषां संबन्धगन्धाङ्कुराः संपर्कलेशोद्गमाः, यस्मिंस्तथाभूते। अनेहसि काले। रम्येण शब्दतोऽर्थतश्च मनोहरेण। पुण्येन पवित्रेण पावित्र्यजनकेन च। रामभद्रेति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धेन। नाम्ना अभिधानेन। मुहुः वारंवारम्। सत्कवीनां वाल्मीकिव्यासादीनाम्। वचोवल्लरीः वाग्व्रततीः। स्फारम् अत्यर्थम्। उद्वेल्लयन् बृंहयन्। सर्वं स्थावरजङ्गमात्मकम्। विश्वम् आनन्दयन् आह्लादयन्। शर्म सुखम्। संचारयन् प्रवर्तयन्। साध्वसं भयम्। भञ्जयन् मर्दयन् सन्। कौशल्यया भगवत्या महाराज्ञ्या। मङ्क्षु सपदि। अनायासमित्यर्थः। असावि उदपादि ॥६५॥

स्फुरन्मरन्दसौरभप्रवाहवासनोत्सुक-
भ्रमन्मिलिन्दकाहलीविजृम्भणावभासिताः;
दिवो निपेतुरुच्चकैरुदारपारिजातक-
प्रसूनवृष्टयस्तदा निलिम्पलोककल्पिताः ॥

दिशः प्रशस्तदर्शनाः समीरणाः सुखावहा
भुवः प्रकर्षसंगता जनाः प्रसन्नतामिताः;
विचित्रकर्मभोगतः क्वचिच्चराचरान्तरे
निविष्टजीवचेष्टिता वयं प्रसादमागताः ॥६६॥

स्फुरदिति। तदा तदानीम्। दिवः आकाशाद् उच्चकैः। निलिम्पलोकैः देवकुलैः, कल्पिताः सृष्टाः। स्फुरन्तः उन्निद्राः, ये मरन्दानां मकरन्दानाम्, सौरभप्रवाहाः सौगन्ध्यतरङ्गाः, तेषां वासनया लिप्सया, उत्सुकाः उत्कण्ठिताः,

अतएव भ्रमन्तः, ये मिलिन्दाः भ्रमराः, तेषां काहलीविजृम्भणया ध्वनिविशेषाविष्कारेण अवभासिताः नीरन्ध्रिताः । उदाराः पारिजातकप्रसूनानां वृष्टयः वर्षणानि । निपेतुः पतिताः । दिशः आशाः । प्रशस्तदर्शनाः सुखालोकाः । समीरणाः वायवः । सुखावहाः स्पृहणीयस्पर्शाः । भुवः कृत्रिमाकृत्रिमस्थलप्रदेशाः । प्रकर्षसंगताः स्वस्वगुणोत्कर्षैः हृदयंगमाः । जनाः लोकाः । प्रसन्नतां प्रसादम् । इताः प्राप्ताः । विचित्रं भाविकवादेन विलक्षणं, यत् कर्म शरीरवाङ्मनोभिरारब्धम्, तद्भोगतः तद्भोगाय । क्वचित् कस्मिंश्चित् । चराचरान्तरे स्थावरजङ्गमलक्षणे सर्गे । निविष्टं लीनं, जीवस्य बलप्राणधाम्नः, चेष्टितं विलसितं, येषां तादृशः । वयं संप्रति वर्तमाना अपि । शाब्देन आर्थेन च व्यापारेण प्रसादम् आगताः प्रतिपन्नाः इति पुनरुक्तप्रायम् ॥६६॥

पुष्यर्क्षे क्षितिजमुपागते झषे विलग्ने
संलग्नप्रमदनिशामनाश्रिते जनौघे ।
सौभ्रात्रप्रकरणतात्त्विकप्रमेयकल्यं
कैकेयी भरतमसूत भूरिभाग्यभव्या ॥६७॥

पुष्यर्क्ष इति । भूरि भूयिष्ठं, यद् भाग्यं भागधेयं, तेन भव्या शोभना । कैकेयी राज्ञी । पुष्यर्क्षे पुष्यनक्षत्रे । झषे विलग्ने मीनाङ्के । क्षितिजं क्षितिजरेखाम् । उपागते प्राप्ते । मीने उदिते सतीत्यर्थः । संलग्नः संश्लिष्टः, यः प्रमदः आनन्दः, तस्य निशामनेन आकर्णनेन, अश्रिते । जनौघे अन्तःपुरवर्गे । सौभ्रात्रप्रकरणस्य भ्रातृस्नेहपूर्तेः, यत् तात्त्विकप्रमेयं मार्मिकरहस्यं, तत्र कल्यं निष्णातम् । भरतं तन्नामानम् । असूत अजीजनत् ॥६७॥

सार्पे कर्कटलग्नेऽभ्युदिते मार्तण्डके महाभागौ ।
तौ लक्ष्मण-शत्रुघ्नौ प्रासोष्टार्या सुमित्रापि ॥६८॥

सार्प इति । आर्या महनीया । सुमित्रापि राज्ञी । सार्पे आश्लेषानक्षत्रे । कर्कटलग्ने कर्कोदये । मार्तण्डके सूर्ये । अभ्युदिते सति । तौ महाभागौ महाशयौ । लक्ष्मण-शत्रुघ्नौ तन्नामानौ । यमलावित्यर्थः । प्रासोष्ट प्रासूत ॥६६॥

यथाकल्पं भगवता वसिष्ठेन कल्पिते संस्कारजाते ते रामभद्रादयश्चत्वारो भ्रातरो विद्यानां विनयानां च संक्रान्तिमणिदर्पणा नवनवैरिन्दुकिरणैरिव स्वभावमधुरैरात्मगुणैः सह लोकानां हृदयान्यध्यवात्सुः। परस्परप्रेमबन्धेष्वपि तेषु प्रकृत्या चन्द्रः सूर्यमिव लक्ष्मणो रामं शत्रुघ्नो भरतमन्वसार्षीत् ॥६९॥

यथेति। यथाकल्पं यथागृह्यसूत्रशासनम्। भगवता वसिष्ठेन कुलगुरुणा। कल्पिते अनुष्ठिते। संस्कारजाते संस्कारकलापे सति। ते रामभद्रादयश्चत्वारो भ्रातरः। विद्यानां चतसृणां त्रयीप्रभृतीनां, विनयानां च शीलानां च। संक्रान्तये संक्रमणाय, मणिदर्पणाः रत्नमुकुरबिम्बाः। नवनवैरिन्दुकिरणैः वर्धिष्णुसुधांशुकरैरिव। स्वभावमधुरैः प्रकृतिपेशलैः। आत्मगुणैः स्वचरित्रैः। सह समम्। लोकानां जनानाम्। हृदयानि मानसानि। अध्यवात्सुः अधिवसन्तिस्म। परस्परेषाम् अन्योन्येषां, प्रेमबन्धाः स्नेहग्रन्थयः, येषां तेषु अपि। तेषु रामभद्रादिषु। प्रकृत्या स्वभावेन। चन्द्रः चन्द्रमाः। सूर्यं सवितारमिव। लक्ष्मणो रामं, शत्रुघ्नो भरतम्। अन्वसार्षीत् अन्वयासीत् ॥६९॥

दन्तैरिवाभ्रमातङ्गो भुजैरिव जनार्दनः।
आश्रमैरिव सद्वर्णः सुतैर्दशरथोऽरुचत् ॥७०॥

दन्तैरिति। अभ्रमातङ्गः ऐरावतः। दन्तैः चतुर्भिर्दशनैरिव। जनार्दनः विष्णुः। भुजैः चतुर्भिः बाहुभिः इव। सद्वर्णः ब्राह्मणादिः। आश्रमैः ब्रह्मचर्यादिभिश्चतुर्भिरिव। दशरथो राजा, सुतैः रामभद्रादिभिः। अरुचद् अरोचिष्ट ॥७०॥

कृतरत्नाकरोल्लासो हृतलोकतमोमलः।
प्रसन्नमण्डलो राजा विरराज करोज्ज्वलः ॥७१॥

कृतेति। कृतः संपादितः, रत्नाकराणां रत्नखनीनां समुद्रस्य च, उल्लासो वृद्धिः, येन तादृक्। हृतः दूरीकृतः, भूरादीनां जनानां च, तमोमलः अज्ञानग्रन्थिः अन्धकारश्च, येन तादृक्। प्रसन्नं मुदितं निर्मलं च, मण्डलं सामन्तवर्गः बिम्बश्च, यस्य तादृक्। करैः भागधेयैः अंशुभिश्च, उज्ज्वलः विशुद्धः स्वच्छश्च। राजा दशरथः, चन्द्रमाश्च। विरराज विरेजे ॥७१॥

अवाप्य परमोच्छ्रायं प्रकाश्य परितो महः ।
आक्रान्तजगतीचक्रो राजहंसो व्यरोचत ॥७२॥

अवाप्येति । आक्रान्तं स्वाधीनीकृतं शासनेन चङ्क्रमणेन च जगतीचक्रं भूमण्डलं येन तथाभूतः । राजहंसः, राजशार्दूलः मरालराजश्च । परमोच्छ्रायं महतीं श्रियं गतिविशेषं च । अवाप्य आलम्ब्य । परितः समन्तात् । महः तेजः धाम च प्रकाश्य निरूप्य च । व्यरोचत व्यद्योतत ॥७२॥

सरस्वतीन्दिराधौते प्रवेष्टविटपाश्रिते ।
तस्य खड्गलताभोगे चिरं चिक्रीड मेदिनी ॥७३॥

सरस्वतीति । तस्य राज्ञो दशरथस्य । सरस्वतीन्दिराभ्यां धौते निर्णिक्ते । प्रवेष्टौ बाहू एव विटपौ, तदाश्रिते तदालम्बने । खड्गो निस्त्रिंश एव, लता वल्ली, तदाभोगे झलञ्झलायाम् । मेदिनी चिरं चिक्रीड । सुखेन सौरभमाससादेत्यर्थः । वीरभोग्या हि वसुंधरेति तात्पर्यम् ॥७३॥

पठन् द्विजो वागृषभत्वमीयात्
स्यात् क्षत्रियो भूमिपतित्वमीयात् ।
वणिग्जनः पण्यफलत्वमीयाज्-
जनश्च शूद्रोऽपि महत्त्वमीयात् ॥७४॥

पठन् द्विज इत्यादि मूलरामायणानुरूपम् । विशेषस्त्वग्रे ॥७४॥

तातश्रीसरयूप्रसादचरणस्त्वर्वृक्षसेवापरो
मातृश्रीहरदेव्यपारकरुणापीयूषपूर्णान्तरः ।
साकेतापरभागवद्धवसतिदुर्गाप्रसादः सुधी-
रास्ते तेन कृतेऽत्र रामचरिते गुच्छोऽयमाद्यो गतः ॥७५॥

इति श्रीमति रामचरिते दशकण्ठवधे भगवदवतारो नाम प्रथमो गुच्छकः ।

अथ द्वितीयो गुच्छकः ।

अथ—'योऽद्वैतसिद्धान्ततरङ्गिताया वेदान्तलक्ष्म्याः कुतुकान्यतानीत्' इति प्राङ्निर्दिष्टमर्थं चिख्यापयिषुरुत्तरग्रन्थं ससंगतिकमवतारयति—

अथ भगवन् ! जीवन्मुक्तस्थितिः कीदृशीति सप्रश्रयं भरद्वाजेन मुनिना पृष्टो वाल्मीकी रामवसिष्ठसंवादमधुरमक्षरामृतं ब्रह्मरसमुपबृंहयन्नुवाद— ॥१॥

अथेति । अथ रामभद्रादीनाम् अपराख्यविद्याग्रहणानन्तरम् । जीवन्मुक्तस्य जीवत्वे मुक्तस्य स्थितिलक्षणम् । सप्रश्रयं सप्रणयम् । प्रश्रयप्रणयौ समावित्यमरः । रामवसिष्ठयोः यः संवाद उक्तिप्रत्युक्तिरूपः, तेन मधुरं श्लक्ष्णम् । अक्षराणि वर्णा एव अमृतानि पीयूषाणि, अक्षरम् अविनश्वरम् अमृतं मोक्षश्च, यस्मिन् तम् । ब्रह्मणो वेदस्य रसं निर्यासम्, ब्रह्मैव रसः तं च । उपबृंहयन् पल्लवयन् । उवाद-वद व्यक्तायां वाचि ॥१॥

जागतस्य भ्रमस्यास्य जातस्याकाशवर्णवत् ।
अपुनःस्मरणं मन्ये ब्रह्मन् ! विस्मरणं वरम् ॥२॥

जागतस्येति । हे ब्रह्मन् ! भरद्वाज ! । आकाशवर्णवत् नभोनैल्यवत् । जातस्य अत्यन्तासंभावितया कल्पितस्य । अस्य पुरोवर्तिनः । जागतस्य जगत्संबन्धिनः । भ्रमस्य मिथ्यामतेः । भ्रान्तिर्मिथ्यामतिर्भ्रमः इत्यमरः । उक्तं च परमार्थसारे—

'रज्ज्वां नास्ति भुजङ्गस्त्रासं कुरुते च मृत्युपर्यन्तम् ।
भ्रान्तेर्महती शक्तिर्न विवेक्तुं शक्यते नाम ॥२८॥'

इति । तन्मूलाविद्यावासनोच्छेदेन अपुनः स्मरणं यथा भवति तथा । विस्मरणं स्मरणाभावम् । वरम् सर्वोत्कृष्टम् । मुक्तिलक्षणम् आत्यन्तिकदृश्योच्छेदः, स्वरूपं तदुपलक्षितचिन्मात्रावस्थितिश्चेत्यर्थः । मन्ये प्रमाणानुभवाभ्यां निश्चितवानस्मि । नीलरूपे नभसि नैल्यस्येवात्मनि विजृम्भितस्य दृश्यजातस्यात्यन्तं विस्मरणमेव वरमिति ज्यायान् पन्थाः । अत्रेदं सारम्—

'भिन्नाऽज्ञानग्रन्थिर्गतसंदेहः पराकृतभ्रान्तिः ।
प्रक्षीणपुण्यपापो विग्रहयोगेऽप्यसौ मुक्तः ॥' इति ॥

दृश्यात्यन्ताभावबोधं विना तन्नानुभूयते ।
महीयसापि यत्नेन स्वबोधोऽन्विष्यतामतः ॥३॥

दृश्येति । दृश्यस्य प्रपञ्चस्य, यः अत्यन्ताभावो बाधः, तस्य बोधं ज्ञानम् । तज्जीवन्मुक्तलक्षणं स्वरूपं च । नानुभूयते न साक्षात्क्रियते । अतः अस्मात् । महीयसा महत्तरेण । यत्नेन उपायेन । स्वबोधः आत्मज्ञानम् । अन्विष्यताम् गवेष्यताम् ॥३॥

उपदेशफलितमाह—

दृश्यं नास्तीति बोधेन मनसो दृश्यमार्जनम् ।
संपन्नं चेत् तदोत्पन्ना परा निर्वाणनिर्वृतिः ॥४॥

दृश्यमिति । चिद्रूपादात्मनो व्यतिरिक्तं दृश्यं देहादि जडजातं नास्तीति बोधेन तत्तज्ज्ञानेन मनसः मानसात् । चेद् उक्तलक्षणस्य दृश्यस्य मार्जनं निरसनं संपन्नं घटितम् । तदा परा निर्वाणाख्या निर्वृतिः आत्मसुखम् उत्पन्ना आविर्भूता इत्यर्थः । मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोरिति भावः ॥४॥

अशेषवासनात्यागो मोक्ष इत्यभिधीयते ।
क्षीणायां वासनायां हि चेतो गलति सत्वरम् ॥५॥
एष वासनया कायो ध्रियते भूतपञ्जरः ।
तन्तुनान्तर्निविष्टेन यथा मौक्तिकगुच्छकः ॥६॥

अशेषेति, एषेति च । वासना पुनरुत्पत्तिबीजम् । पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः । चेतो मनः वासनापुञ्जरूपम् । शेषं स्पष्टम् ॥५-६॥

वासनां विभजते—

वासना द्विविधा शुद्धा मलिना चेति गीयते ।
मलिना जन्मनो बीजं शुद्धा जन्मविभञ्जनी ॥७॥

वासनेति । स्पष्टम् ॥७॥

अज्ञानघनसंकाशा घनाहंकारकर्कशा ।
पुनर्जन्मकरी ज्ञेया वासना मलिना बुधैः ॥८॥

अज्ञानेति । अज्ञानक्षेत्रे एव वासनाबीजानि प्ररोहन्ति हि ॥८॥

संभृष्टबीजसंस्थाना पुनर्जन्माङ्कुरात्तमा ।
शरीरे वासना शुद्धा भाति चक्रे यथा भ्रमिः ॥९॥

संभृष्टेति । संजाते ज्ञाने कृतकृत्ये चक्रे भ्रमिरिव शरीरे भृष्टबीजकल्पा वासना भवाङ्कुरोत्पादिका न भवति । उक्तं च परमार्थसारे—

'अग्न्यभिदग्धं बीजं यथा प्ररोहासमर्थतामेति ।
ज्ञानाग्निदग्धमेवं कर्म न जन्मप्रदं भवति ॥६२॥'

इति ॥९॥

अत एतत् फलति—

ये शुद्धवासना भूयो न जन्मानर्थभाजनम् ।
ज्ञातज्ञेयास्त उच्यन्ते जीवन्मुक्ता महाधियः ॥१०॥

य इति । ज्ञातज्ञेयाः प्राप्तज्ञेयावसाना इत्यर्थः । तथाच गीतासु—

'यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥'

इति ॥१०॥

मुक्तिफलं दृष्टान्तयन् भरद्वाजं नियन्त्रयति—

जीवन्मुक्तिश्रिया रेमे यथा रामो महायशाः ।
तदत्र साध्यते साधो ! सावधानोऽवधारय ॥११॥

जीवन्मुक्तीति । सावधानः एकतानः सन् अवधारय निश्चिनु । किं तत् ! हे साधो ! यदत्र जीवन्मुक्तिविषयकं साध्यते दृष्टान्तानुभवाभ्यां व्युत्पाद्यते इति ॥११॥

अथ विद्याविनयसंपन्नो रामभद्रः कानिचिद् दिनानि गृहेषु क्रीडया नयन्नेकदा नखकिरणकेसरपरीतं पितृपादपद्मं समुपसृत्य, तात ! तीर्थानि द्रष्टुमुत्कण्ठितं मम चेतो भवदाज्ञां प्रतीक्षत इति विनतकंधरं प्रार्थयांचक्रे। अनुज्ञातः शास्त्रज्ञैर्विप्रैः स्निग्धैर्वयस्यैश्च सहलक्ष्मणशत्रुघ्नो यथायथं चतुर्दिगन्तश्रितानि तानि तीर्थदेवतायतनपुण्यारण्यानि सभाजयित्वा कोशलानन्दिनीं प्रत्ययासीत् ॥१२॥

अथेति । सभाजयित्वा प्रीतिपूर्वकं सेवित्वा । सभाज प्रीतिसेवने ॥१२॥

तदन्वनुदिनं रघुनन्दनः प्रासादेऽवस्थितः, शरदि कासार इव कार्श्यं श्रयन्, पद्मासनगतः, कपोलतलसंलीनपाणिपल्लवः, अरुणोदय-विच्छायमिन्दुबिम्बमिव वदनमुकुलं दधत्, चिन्तापरायणस्तूष्णीको व्यापारशून्योऽजनिष्ट ॥१३॥

तदन्विति । कासारः पद्माकरः । पद्माकरस्तडागोऽस्त्री कासारः सरसी सरः इत्यमरः । पद्मासनं नामासनविशेषः । यथा–

'वामोरूपरि दक्षिणं नियमतः संस्थाप्य वामं तथा–
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्या कराभ्यां धृतम् ।
अङ्गुष्ठं हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकये–
देतद् व्याधिविकारनाशनकरं पद्मासनं प्रोच्यते ॥' इति ।

तूष्णीकः तूष्णींशीलः । शीले को मलोपश्च ॥१३॥

अहह ! किमेवं कुमारोऽजनीति चिन्तयति परिजने, शोचति मातृमण्डले, विषीदति वयस्यवर्गे, दुर्मना दशरथः सहसा दौवारिके-णागत्य, 'देव ! भवन्तं द्रष्टुं द्वारमधितिष्ठति स भगवान् विश्वामित्रः' इति सत्वरं व्यज्ञपि ॥१४॥

अहहेति । दौवारिकः द्वारे नियुक्तः । 'तत्र नियुक्तः' (पा०सू० ४।४।६६) इति ठक् । विश्वेषां मित्त्रः विश्वामित्त्रः । 'मित्त्रे चर्षौ' (पा० सू० ६।३।१३०)

इति दीर्घः । विश्वस्य मित्रं निरुपाधिप्रेमगोचरतया प्रेयान् । 'आत्मानमेव प्रियमुपासीत' इति श्रुतिः । 'विश्वत्रयेण यो मैत्रीं कर्तुमिच्छति धर्मतः । विश्वामित्रः सः–' इति स्मृतिश्च । व्यञ्जपि न्यवेदि ॥१४॥

सोऽपि श्रवणसमकालमेव सिंहासनादुत्थाय सामात्यः समं वसिष्ठ-वामदेवाभ्यां पदातिरेव त्वरितपदं पद्यमानः पिशङ्गजटाजूटं ससंध्याभ्रमिव शैलकूटम्, उल्लसद्यज्ञोपवीतं सवारिप्रपातवेणिकमिव शिखरिणम्, अपरभुवनोपादानकारणशेषभाण्डकमिव कमण्डलुं दधानं, सुकृतसुधामधुराभ्यां वाङ्मनसाभ्यां वन्दारूननुगृह्णानं महर्षिमालुलोके ॥१५॥

सोऽपीति । पिशङ्गजटाजूटं पिङ्गलसटाबन्धम् । पिङ्गपिशङ्गौ कद्रुपिङ्गलौ इति, व्रतिनस्तु जटा सटा इति चामरः । अतएव ससंध्याभ्रमिव शैलकूटम् । उल्लसद्यज्ञोपवीतं धृतयज्ञसूत्रम् । अतएव सवारिप्रपातवेणिकमिव शिखरिणम् । अपरभुवनस्य भुवनान्तरस्य, यत् उपादानकारणशेषं निर्माणावशेषद्रव्यं, तस्य भाण्डकमिव कमण्डलुं दधानम् । सुकृतसुधामधुराभ्यां पुण्यपीयूषसोदर्याभ्याम् । वाक् च मनश्च वाङ्मनसे । 'अचतुर–' (पा० सू० ५।४।७७) इति निपातनात् । ताभ्याम् । वन्दारून् अभिवादकान् । 'शृवन्द्योरारुः' (पा. सू. ३।२।१७३) इति ॥१५॥

अवलोक्य दूरादेव भूतलमिलन्मुकुटमणिकोरकं प्रणिपत्यैनं यथाशास्त्रं परिपूज्य च प्रतिनन्दनमधिगत्य प्राञ्जलिरेतदवोचत् ॥१६॥

अवलोक्येति । स्पष्टम् ॥१६॥

भगवन् ! भवता द्विजराजेन पयोधिरिव परमोल्लाससीमानं लम्भितोऽहमिदानीं किं व्याहराणि किं वाऽऽचराणि, यदादेशविधिप्रसितो ममान्तरात्माऽऽत्मानमतोऽपि महान्तं मन्येत, इति प्रणयपेशलं ब्रुवाणे धरणिसुत्रामणि स प्रत्यवोचत ॥१७॥

भगवन्निति । द्विजराजेति श्लिष्टम् । शेषं स्पष्टम् ॥१७॥

अयि ! रघुधुरंधर !! महावंशप्रसूतस्य तवैष व्याहारो वाढमुपपद्यते। यदहं दशरात्रेण क्रतुना यियक्षमाणो रक्षोभयक्षुब्धोऽधिज्यधन्वानं रामभद्रमेव रक्षितारं मन्वानोऽर्थित्वेन त्वां प्राप्तोऽस्मि ॥१८॥

अयीति। वाढमुपपद्यते प्रकामं संगच्छते। दशरात्रेण क्रतुना सोमयागविशेषेण ॥१८॥

पुत्रस्य तादृशं दौर्मनस्यं रणेऽपाटवं च विभावयन् नननेति गर्भितेन वाकोवाक्येन गमननिषेधमेव समर्थयन्नपि पार्थिवो महर्षिभ्रूभङ्गभुजङ्गभीतो वसिष्ठबोधितः सलक्ष्मणं रामभद्रमाजूहवत ॥१९॥

पुत्रस्येति। वाकोवाक्येन उक्तिप्रत्युक्तिप्रस्तावेन ॥१९॥

सोऽपि च प्ररूढमानसव्यथाविषण्णः शनकैरुपेत्य पुरस्तात् पितरं परस्तात् तपोधामनी वसिष्ठविश्वामित्रौ ब्रह्मनिष्ठं वामदेवं च प्रणम्य तेन मूर्धन्याघ्रातः सवात्सल्यमालिङ्गितस्ताभ्यां तेन च प्रयुक्ताशीरवन्यां परिजनास्तीर्णेऽशुके न्यविक्षत। तदनु क्रमेण तैरेवमवादि ॥२०॥

सोऽपीति। सोऽपि रामभद्रः। तैः दशरथवसिष्ठविश्वामित्रवामदेवैः ॥२०॥

पुत्र ! प्राप्तविवेकोऽसि कल्याणानां च केतनम्।
जडवज्जीर्णया मत्या मोहायात्मा न दीयताम् ॥२१॥

पुत्रेति। 'पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् पितरं त्रायते सुतः। तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवा ॥' इति निरुक्तिः। जडवद् अविवेकिवत्। जीर्णया शिथिलया। मोहनं मोहः। मुह वैचित्त्ये-घञ्। आत्मा जीवः ॥२१॥

राजपुत्र ! महाबाहो ! शूरस्त्वं विजितास्त्वया।
दुरुच्छेदा दुरारम्भा अपीमे विषयारयः ॥२२॥

राजपुत्रेति। विषया एव अरयः ॥२२॥

किंनिष्ठाः के कियन्तस्ते हेतुना केन चानघ ! ।
आधयस्तेऽवलुम्पन्ति मनो गेहमिवाखवः ॥२३॥

किमिति । आधयः किं निष्ठाः के चेति स्वरूपप्रश्नः । केन हेतुना चेति निमित्तप्रश्नः । ते कियन्त इति विभागप्रश्नः ॥२३॥

इति पृष्टो मुनीन्द्रेण समाश्वस्य च राघवः ।
यथावद् वक्तुमारेभे लङ्घते को हि सद्वचः ॥२४॥

इतीति । इति विशिष्य मुनीन्द्रेण भगवता विश्वामित्रेण । पृष्टः प्रणुन्नः । समाश्वस्य समाश्वासं प्राप्य । सतां महात्मनां, सद् उपादेयं च वचः । कः प्रेक्षावान् । लङ्घते अतिक्रामति ॥२४॥

(१)

सदाचारपरो भूत्वा भ्रमित्वा तीर्थभूष्वहम् ।
भोगनीरसया बुद्ध्या महर्षे ! मृष्टवानिदम् ॥२५॥

सदाचारेति । स्पष्टम् ॥२५॥

किं नामेदं बत सुखं येयं संसारसंगतिः ।
जायन्ते मृतये यत्र म्रियन्ते जातये जनाः ॥२६॥

किमिति । "मृतिबीजं भवेज्जन्म, जन्मबीजं भवेन्मृतिः" इति वचनादित्यर्थः ॥२६॥

अयःशङ्कुसमाः सर्वे परस्परमसङ्गिनः ।
श्लिष्यन्ते केवलं भावा मनःकल्पनया स्वया ॥२७॥

अय इति । सूच्यादिवत् मिथः संबन्धशून्या अपि दृश्या भावाः अहमेतेषां मम चैते इति क्रियाकारकभावेन संबध्यन्ते—इत्यर्थः ॥२७॥

मनसा जगदाभोगि मनोऽसदिव दृश्यते ।
मृगतृष्णाम्भसा कष्टं मृगा इव विमोहिताः ॥२८॥

मनसेति । जगद् मनसा आभोगि विषयानुबन्धि । तच्च मनः अत्यन्त-

तरलत्वाद् असदिव शून्यकल्पमिव दृश्यते अनुभूयते। कष्टं मृगतृष्णाम्भसा मरीचिवारिणा मृगा इव भोगाभिलाषेण विमोहिता वयम् ॥२८॥

नहि केनापि विक्रीता विक्रीता इव यन्त्रिताः।
अहो! सर्वे वयं मूढा जानाना अपि शाम्बरीम् ॥२९॥

नहीति। शं वृणोतीति शंवरो दैत्यविशेषः, तत्संबन्धिनीं शाम्बरीम्, मायाम्। उक्तस्यैव प्रपञ्चः ॥२९॥

एवं विमृशतो बाढं दुरन्तेष्वस्थिरेषु मे।
भावेष्वरतिरुत्पन्ना पथिकस्य मरुष्विव ॥३०॥

एवमिति। दुरन्तेषु दुष्परिणामेषु। अरतिः वैरस्यम्। उक्तं च पातञ्जले–'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' (यो० द० २।१५) इति ॥३०॥

तदिदं भगवन्! ब्रूहि किमिदं परिणश्यति।
किमिदं जायते भूयः किमिदं परिवर्धते ॥३१॥

॥ इति प्रथमः परितापः ॥

तदीति। हे भगवन्! त्रिकालज्ञ! तदिदं प्रत्यक्षमुपनतं ब्रूहि आख्याहि। किमिदं दृश्यं सत् परिणश्यति अगोचरतां प्राप्नोति। सतो नाशासंभवात्। किमिदं भूयः जायते प्रादुर्भवति। परिणष्टं कथमिव जायेत। किमिदं पुनः परिवर्धते। परिणष्टस्य पुनरुत्पत्त्यसंभवे तद्वर्धनानौचित्यात्। यदि च दृश्यमसत् तर्हि किं परिणश्येत्। स्वरूपेणासतो असत्त्वप्रतिपादनं वन्ध्यासूनुध्वंसवदनुपपन्नम्। एवं च जननवर्धने अपि। यदि यद् दृश्यते तदन्यन् नश्यति–इत्यादि प्रतिपाद्येत तदा संबन्धाभावेन शङ्कैव दुष्यति ॥३१॥

॥ इति प्रथमः परितापः ॥

इदानीं परितापमेव प्रपञ्चयति सप्तदशभिः प्रघट्टकैः–

(२)

मोहयन्ती मनोवृत्तिं खण्डयन्ती गुणावलिम्।
प्रयच्छन्ती दुःखजालं श्रीरियं किं गवेष्यते ॥३२॥

मोहयन्तीति । श्रयतीति श्रीः सौभाग्यसंपत् । माघोक्त्याऽखिललोककान्तेति यावत् ॥३२॥

लक्ष्मीर्विशङ्कटोल्लासकल्लोलाननमाकुलान् ।
जडौघान् विकृतान् धत्ते वर्षास्विव तरङ्गिणी ॥३३॥

लक्ष्मीरिति । विशङ्कटं पृथु वृहत्—इत्यमरः । जडौघान्—वारिवेगान्, जडवृन्दानि च । ...ओघो वेगे जलस्य च । वृन्दे परम्परायां च द्रुतनृत्योपदेशयोः—इति मेदिनी ॥३३॥

इयं श्रीः पदमेकत्र नो निबध्नाति चञ्चला ।
दग्धेवानियताचारचङ्क्रमा व्यतिराजते ॥३४॥

इयमिति । उपमेयपक्षे—अनियताचारेषु शास्त्रविहिताचरणशून्येषु, उपमानपक्षे—अनियताचारं स्खलितन्यासं यथा तथा, चङ्क्रमो यस्याः सा । व्यतिराजते इति—'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' (पा० सू० १।३।१४) इत्यात्मनेपदमिष्यते ॥३४॥

गुणागुणानपश्यन्ती श्रीरेषा पार्श्वशायिनम् ।
राजप्रकृतिवन्मूढा दुरारूढाऽवलम्बते ॥३५॥

गुणागुणेति । प्रायेण राजानोऽविवेकिनो भवन्ति । उक्तं च—आश्रयन्ति समीपस्थं राजानो वनिता लताः—इति ॥३५॥

तावच्छीतमृदुस्पर्शो लोकः स्वेषु परेषु वा ।
वात्ययेव हिमं यावल्लक्ष्म्या न परुषीभवेत् ॥३६॥

तावदिति । वात्यया वातसमूहेन । 'पाशादिभ्यो यः' (पा.सू. ४।२।४९) इति यः ॥३६॥

प्राज्ञाः कृतज्ञाः संख्यज्ञाः पेशलाः सरला अपि ।
पांसुमुष्टय्येव मणयो लक्ष्म्या हि मलिनान्तराः ॥३७॥

प्राज्ञा इति । प्राज्ञाः प्रज्ञावन्तः । कृतज्ञाः उपकारविदः । संख्यज्ञाः संग्रामप्रणयिनः । पेशलाः चारवः । चारौ दक्षे च पेशलः–इत्यमरः । सरलाः उदाराः ॥३७॥

सुदृष्टिदीपिकावात्या वैराग्येन्दुकलाकुहूः ।
श्रीरियं सुखसद्मेति मुधैव जनजल्पना ॥३८॥

॥ इति लक्ष्मीनिराकरणम् ॥

सुदृष्टीति । दृष्टिः ज्ञानं नेत्रं च । "'दृष्टिः स्त्रियां बुद्धौ लोचने दर्शनेऽपि च–इति मेदिनी । वैराग्यम् एव इन्दुकला, तत्र कुहूः रात्रिविशेषः । सा नष्टेन्दुकला कुहूः–इत्यमरः । 'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्' (यो० द० १।१५) इति ॥३८॥

॥ इति लक्ष्मीनिराकरणम् ॥

(३)

युज्यते वेष्टनं वायोः खण्डनं सुरवर्त्मनः ।
ग्रथनं च तरङ्गाणां संगतं नायुषः पुनः ॥३९॥

युज्यत इति । संगतं संगतिः ॥३९॥

चलत्पल्लवकोणाग्रलम्बाम्बुलवभङ्गुरम् ।
आयुरुन्मत्तवत् कायमपहाय पलायते ॥४०॥

चलदिति । चलतः पल्लवस्य कोणाग्रे यल् लम्बाम्बु, तस्य लववद् भङ्गुरम् । उन्मत्तवद् अविवेकिवद् इति भावः । पलायते । अय गतौ ॥४०॥

अविश्रान्तमना मूढो जीवितं ततमीहते ।
केवलं क्लेशपाकाय गर्भमश्वतरी यथा ॥४१॥

अविश्रान्तेति । आत्यन्तिकतृष्णोपरतिर्हि मनसो विश्रान्तिः । अश्वाद् गर्दभ्याम् उत्पन्ना अश्वतरी ॥४१॥

भारो विवेकिनः शास्त्रं भारो ज्ञानं हि रागिणः ।
अशान्तस्य मनो भारो भारोऽनात्मविदो वपुः ॥४२॥

भार इति। एवमादिस्थले शब्दस्य पुनरुक्तिरेव विच्छित्तिमावहति। अतएव–'नैकं पदं द्विः प्रयोज्यं प्रायेण' (वा० सू० ५।१) इति सूत्रयन् वामनः प्रायेण इति प्रायुङ्क्त ॥४२॥

पादपा अपि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः।
स जीवति मनो यस्य मननेन न जीवति ॥४३॥

॥ इति जीवितगर्हा ॥

पादपा इति। पादैः मूलैः पिबन्ति इति पादपाः वृक्षाः। 'सुपि स्थः' (पा० सू० ३।२।४) इति कः। एषां चेतनत्वे स्मृतिरपि–

"तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना।
अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःख समन्विताः ॥" (मनु. १।४६)

इति। मनसो ह्यजीवनत्वं निश्चलीभावः। इयं मनोवस्था उन्मनीभावपदेनापि परिभाष्यते ॥४३॥

॥ इति जीवितगर्हा ॥

(४)

मिहिका गुणपद्मेषु कुलिशं शमशाखिषु।
सैंहिकेयो विमर्शेन्दावहंकारो भृशायते ॥४४॥

मिहिकेति। अहमिति करणमहंकारः। अहमिति विभक्तिप्रतिरूपकमव्ययम्। आत्मा हि अहंप्रत्ययप्रत्ययी। तत्र शब्दसृष्टिप्रस्तावे–अहमिति प्रत्याहारन्यायेन अकारादिहकारान्तो वर्णसंघातः। अर्थसृष्टिप्रस्तावे तु–अभिमानोऽहंकारः इति अन्तःकरणवृत्तिविशेषः। अभृशो भृशो भवतीति भृशायते। 'भृशादिभ्यो भुव्यच्वेर्लोपश्च हलः' (पा. सू. ३।१।१२) इति क्यङ् ॥४४॥

इह कायमहारण्ये क्षुब्धोऽहंकारकेसरी।
जृम्भते विकटाटोपं तेनेदं जगदश्यते ॥४५॥

इहेति। जभि-जृभी गात्रविनामे। अश्यते अस्यते। अश्नातेः कर्मणि लट् ॥४५॥

निराकुर्वन् घनाकारमहंकारमहाकरी ।
आ ! आरोहयते कामं दुरारम्भनिषादिनम् ॥४६॥

निरेति । आः ! अहंकार एव महाकरी मत्तमातङ्गः । घनाकारं निराकुर्वन् पराभवन् । दुष्टः आरम्भः दुरारम्भः, स एव निषादी, तम् । कामं यथा स्यात् तथा, आरोहयते ॥४६॥

अहो ! अहंकृतेः कृत्या यदल्पेऽपि परिच्छदे ।
आढ्यंमन्या नृपंमन्याः प्राज्ञंमन्याश्च जज्ञिरे ॥४७॥

अहो इति । अहो ! हंहो ! । अहंकृतेरहंकारस्य । कृत्या करणेन चेष्टया अथवा कृत्येति प्रथमान्तम् । यद् यस्मात् कारणाद् अल्पे कतिपयेऽपि । परिच्छदे भोगसामग्रीसत्त्वे । इत्थंप्रकृतिका जज्ञिरे—इत्यर्थः ॥४७॥

अहंकारेऽम्बुदे शान्ते तृष्णया तडिताऽशमि ।
विच्छिन्ने विटपारोहे व्रतत्यापि विलीयते ॥४८॥

अहमिति । अहंकारे अम्बुदे शान्ते सति । तृष्णया तडिता विद्युता अपि अशमि शान्तम् । शम्यतेर्भावे लुङ् । व्यस्तरूपकम् । विटपारोहे विच्छिन्ने सति, तदालम्बिन्या व्रतत्या वल्लर्यापि । विलीयते शम्यते इति प्रसिद्धम् ॥४८॥

अहमित्यस्ति चेद् बुद्धिरहमापदि दुःखितः ।
नास्ति चेत् सुखितस्तस्मादनहंकारिता वरम् ॥४९॥

॥ इत्यहंकारजुगुप्सा ॥

अहमिति । अनेनाहंकाराभावो व्युत्पादितः ॥३६॥

॥ इत्यहंकारजुगुप्सा ॥

(५)

मनो मननविक्षुब्धं दिशो दश विगाहते ।
मन्दरान्दोलनोद्धूतक्षीरोदाम्बुपृषद् यथा ॥५०॥

मन इति । क्षुब्धस्य मनसो दशदिशावगाहने देवासुरैर्मथ्यमानस्य क्षीरोदस्य क्षीराब्धेः पृषतो दृष्टान्तः ॥५०॥

भोगदूर्वाङ्कुराकाङ्क्षी श्वभ्रपातमचिन्तयन् ।
इतस्ततो धावमानो न श्राम्यति मनोमृगः ॥५१॥

भोगेति । श्वभ्रपातम् अधः पातम् ॥५१॥

क्रोडीकृतदृढग्रन्थितृष्णासूत्रयुजात्मना ।
पक्षिणा जालकेनेव चेतसा परितप्यते ॥५२॥

क्रोडीति । क्रोडीकृतः अन्तर्नीतः, दृढग्रन्थिः विषयग्रहो यया तादृशी, तृष्णैव सूत्रम् तन्तुः, तेन युज्यते इति तथाभूतेन । आत्मना बलप्राणभूता चेतनेन । कर्त्रा । पक्षिणा जालबन्धेन इव । चेतसा करणेन परितप्यते क्लिश्यते—इत्यर्थः ॥५२॥

अनल्पकल्पनातल्पे विलीनाश्चित्तवृत्तयः ।
बोध्यमाना न बुध्यन्ते तदत्यर्थं व्यथामहे ॥५३॥

अनल्पेति । अनल्पकल्पनैव तल्पम्, तत्र । तल्पमट्टे शय्या-कलत्रयोः इति द्विस्वरे हैमः । व्यथामहे—व्यथ भय-संचलनयोः ॥५३॥

अवान्तरे निपाताय प्रान्तरे भ्रमणाय वा ।
तृणेन पवनेनेव चेतसा बहु चल्यते ॥५४॥

अवान्तरेति । अवान्तरे अकाण्डे । निपाताय प्रशमाय । प्रान्तरे शून्ये । भ्रमणाय गमनाय । पवनेन वायुना, तृणेन इव । चेतसा, बहु अधिकम् । चल्यते भ्रम्यते ॥५४॥

धूमिना मत्सरौघेण ज्वालिनाऽनन्तचिन्तया ।
आश्रयाशेन मनसा प्लुष्यते स्फारमन्तरम् ॥५५॥

धूमिनेति । मत्सरौघेण अन्यशुभद्वेषावेशेन । धूमिना धूमवता । ज्वालिना ज्वालाविष्टेन । आश्रयाशेन अग्निना इव । मनसा अन्तरं स्फारं बहु प्लुष्यते दह्यते ॥५५॥

यावन्न मनसोऽपैति जगच्चित्रं प्रसारितम् ।
तावत्कौतूहलाक्रान्तं कथमेतत् प्रशाम्यति ॥५६॥

यावदिति । एतद् मनः ॥५६॥

क्षणं ध्यानं क्षणं ज्ञानं क्षणं नन्दनचिन्तनम् ।
विलक्षणं मनो यावद् विषयोर्मिषु सक्षणम् ॥५७॥

क्षणमिति । सक्षणं सस्पृहम् । क्षणमिति–'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' (पा० सू० २।३।५) इति द्वितीया ॥५७॥

क्षणाज्जगन्ति संचर्य न मनागपि तिष्ठति ।
यत्तन्निगृह्यतां केनाकाशकासारतृण्मनः ॥५८॥

॥ इति चित्तदौरात्म्यम् ॥

क्षणादिति । आकाश एव कासारः, तत्र तृड् तृष्णा यस्य तादृग् मनः । अतएव गीतासु–

'चञ्चलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि बलवद् दृढम् ।'
महाशनो महापाप्मा विध्येनमिह वैरिणम् ॥ (६।३४) इति ॥५८॥

॥ इति चित्तदौरात्म्यम् ॥

(६)

अलमन्तभ्रमायैव तृष्णा विलुलिताशया ।
प्रयाता विषमोल्लासमूर्मिरम्बुनिधाविव ॥५९॥

अलमिति । भ्रमो मिथ्यामतिः आवर्तश्च । विलुलिताशया आलोडितचित्ता । अन्यत्र आन्दोलितमध्यप्रदेशा ॥५९॥

वाञ्छन्नपि रयं रोद्धुं वात्ययेव जरत्तृणम् ।
नीतः कलुषया क्वापि तृष्णया चित्तचातकः ॥६०॥

वाञ्छन्निति । रयं चापल्यं वेगं च । रोद्धुं वाञ्छन्नपि चित्तमेव चातकः पक्षिविशेषः । धर्ममेघाख्यरसपानाय मेघरसपानाय चेत्यर्थाल्लभ्यते । वात्यया जरत्तृणमिव कलुषया तृष्णया क्वापि नीतः प्रापितः ॥६०॥

मरुतीव रजःपुञ्जो वियतीव शरद्घनः ।
उदन्वतीव डिण्डीरस्तृष्णावर्ते भ्रमाम्यहो ! ॥६१॥

मरुतीति । डिण्डीरोऽब्धिकफः फेनः— इत्यमरः ॥६१॥

अश्रान्तजलसंसर्गा गाढोर्ध्वाधोगमागमा ।
तृष्णा ग्रन्थिमती स्फारमारघट्टाग्ररज्जुवत् ॥६२॥

अश्रान्तेति । आरघट्टः घटीयन्त्रम् । अरहट इति प्रसिद्धम् ॥६२॥

कुटिला कोमलस्पर्शा विषवैषम्यसंश्रया ।
दशतीपदपि स्पृष्टा तृष्णा कृष्णेव सर्पिणी ॥६३॥

कुटिलेति । कुटिलेति चत्वारि विशेषणानि उभयत्र तुल्यानि ॥६३॥

अनावर्जितचित्तापि सर्वमेवानुगच्छति ।
न विन्दति फलं किंचित् तृष्णा जीर्णेव कामिनी ॥६४॥

अनावर्जितेति । न आवर्जितम् अनाकलितं चित्तं यया तथाभूता जीर्णा कामिनीव ॥६४॥

पदं करोत्यलङ्घ्येऽपि तृप्तापि फलमीहते ।
चिरं तिष्ठति नैकत्र तृष्णा लोलेव वानरी ॥६५॥

पदमिति । पदं स्थानं चरणन्यासं च ॥६५॥

उद्यद्घनरसोत्सेधा परमालोकमुद्रिका ।
मोहकेकिकुलाकीर्णा तृष्णा कादम्बिनीयते ॥६६॥

उद्यदिति । कादम्बिनी मेघमाला—इत्यमरः ॥६६॥

आयताऽनन्तसंस्थाना विचित्रा विगलद्गुणा ।
आबद्धरागसंताना तृष्णा शक्रधनूयते ॥६७॥

आयतेति । अनन्तम् अपरिच्छिन्नं, अनन्ते खे च संस्थानं यस्याः सा । गुणः औदार्यादिः मौर्वी च । शक्रधनूयते-शक्रधनुः इन्द्रायुधम्, तद्वदाचरति । शक्रधनुष्शब्दादाचारेऽर्थे क्यङ् । 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' (पा० सू० ३।१।११) इति ।।६७।।

वल्लकी कामगीतानां शृङ्खला मोहदन्तिनाम् ।
नटी जगद्रूपकाणां तृष्णा केनाभिभूयताम् ।।६८।।

।। इति तृष्णाभङ्गः ।।

वल्लकीति । जगन्त्येव रूपकाणि । नाटकादिदृश्यकाव्यविशेषाः ।।६८।।

।। इति तृष्णाभङ्गः ।।

(७)

सुखराकाप्रभोद्भासि क्षणमानन्दतुन्दिलम् ।
क्षणं दुःखकुहूध्वान्तच्छन्नं क्लिष्टमिदं वपुः ।।६९।।

सुखेति । सुखमेव राका पूर्णचन्द्रा रात्रिः । पूर्णे राका निशाकरे–इत्यमरः । दुःखमेव कुहूः शून्यचन्द्रा रात्रिः । सा नष्टेन्दुकला कुहूः–इत्यमरः । क्षणमित्यत्यन्तसंयोगे द्वितीया ।।६९।।

बद्धास्था ये शरीरेषु सक्ताः संसृतिभूतिषु ।
ते मोहमदिरोन्मत्ताः किमुच्यन्ते धिगन्तरा ।।७०।।

बद्धास्थेति । आस्था आलम्बनम् । आस्था त्वालम्बनास्थानयत्नापेक्षासु योषिति–इति मेदिनी । संसृतिः संसारः ।।७०।।

तडित्सु शरदभ्रेषु गन्धर्वनगरेषु च ।
स्थिरता निश्चिता येन तेन विश्वस्यतां तनौ ।।७१।।

तडिदिति । गन्धर्वनगरं राजनगराकारं नीलपीतादिमेघरचनाविशेषः ।।७१।।

इयं हि चेतना दीना देहान्तरविवर्तिना ।
मिथ्याज्ञानपिशाचेन ग्रस्यमाना विमुह्यति ।।७२।।

इयमिति । दीना वराकी ।।७२।।

न किंचिदपि दृश्येऽस्मिन् दृश्यते सत्यवत्तया ।
दग्धात्मना शरीरेण जनता विप्रलभ्यते ॥७३॥

नेति । सत्यवत्तया परमार्थतया । दग्धात्मना चेतनहतकेनेत्यर्थः ।।७३।।

ऊर्ध्वाधस्तिर्यगारूढप्रवालावलिसंवृतः ।
प्रकाण्डशाखाविटपप्राग्भारविभवोच्छ्रितः ॥७४॥
आमूलचूडपर्याप्तिपत्त्रपुष्पफलोर्जितः ।
तृष्णाशीविषसूत्कारः कोपवायसवाशितः ॥७५॥
द्रोहगृध्रगरुत्क्षोभोऽहंकारोल्लासलालितः ।
कस्यात्मीयः परो वापि कायवृक्षोऽयमुद्गतः ॥७६॥ (तिलकम्)

॥ इति कायजुगुप्सा ॥

ऊर्ध्वेति । सर्वदिक्कया प्रवालसंतत्या वेष्टित इत्यर्थः ।

प्रकाण्डेति । तत्तदवयवसमृद्ध्या अभ्रंकष इत्यर्थः ।

आमूलेति । आमूलाग्रं तत्तद्भोग्यविशेषेण प्राणित इत्यर्थः ।

तृष्णेति । सूत्कारः फूत्कारः । वाशितः शब्दितः । तिरश्चां वाशितं रुतम्—इत्यमरः ।

द्रोहेति । गरुत्क्षोभः पक्षविक्षेपः । स्वकीयः परकीयो वा । उभयथाप्यनास्थेयः इति भावः । तिलकं त्रिभिः संबद्धं विशेपकमित्यर्थः ।।७४–७६।।

।। इति कायजुगुप्सा ।।

(८)

लब्धापि तरलाकारे कार्यभारतरङ्गिणि ।
संसारसागरे जन्म, बाल्यं क्लेशाय केवलम् ।।७७।।

लब्ध्वेति । क्लिश्नन्ति इति क्लेशाः । तथा च पतञ्जलिः—'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः' (यो० द० २।३) इति ॥७७॥

अशक्तिरापदस्तृष्णा मूकता मूढबुद्धिता ।
गृध्नुता लोलता दैन्यं बाल्ये बल्गन्त्यशृङ्खलम् ॥७८॥

अशक्तीति । गृध्नुः गर्धनशीलः । गृधु अभिकाङ्क्षायाम् । 'त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः' (पा० सू० ३।२।१४०) इति क्नुः । अशृङ्खलं निरर्गलमिति क्रियाविशेषणम् ॥७८॥

रोषरोदनरौद्रीषु दैन्यदीप्तदुराधिषु ।
दशासु बन्धनं बाल्यमालानमिव हस्तिनः ॥७९॥

रोषेति । रौद्र्यः उग्राः । आलानं हस्तिबन्धनम् । आलानं करिणां बन्धस्तम्भे रज्जौ च न स्त्रियाम्—इति मेदिनी ॥७९॥

प्रतिबिम्बघनाज्ञानं नानासंकल्पपेलवम् ।
बाल्यमालूनसंशीर्णमनः कस्य सुखावहम् ॥८०॥

प्रतिबिम्बेति । प्रतिबिम्बवद् घनं सान्द्रम् अज्ञानं यस्मिंस्तत् । नानासंकल्पैः पेलवम् कोमलम् । तत्तत्संकल्पितविषयालाभाद् आलूनवत् सर्वतश्छिन्नवत् संशीर्णवद् दुःखितवत् मनो यस्मिंस्तत् ॥८०॥

सर्वेषामेव सत्त्वानां सर्वावस्थाभ्य एव हि ।
विशिष्य शैशवे चेतश्चाञ्चल्याधिक्यमृच्छति ॥८१॥

सर्वेषामिति । प्रत्यक्षमनुभूतमेतत् ॥८१॥

मनः प्रकृत्यैव चलं बाल्यं च चलतां वरम् ।
भ्रात्रोरिव तयोः श्लेषश्चापलायालमेधते ॥८२॥

मन इति । पूर्वस्यैव प्रपञ्चनमेतत् ॥८२॥

विकल्पकल्पितारम्भे दुर्विलासे दुराशये ।
आः कष्टं मोहमाधत्ते बालो बलवदापतन् ॥८३॥

॥ इति बाल्यजुगुप्सा ॥

विकल्पेति। वलवदित्यव्ययम्। वलवत्सुष्ठु किमुत स्वत्यतीव च निर्भरे-इत्यमरः ॥८३॥

॥ इति वाल्यजुगुप्सा ॥

(६)

वाल्याक्रीडमतिक्रम्य प्रसरत्कामकेलयः।
आरोहन्ति निपाताय यौवनं सालशृङ्गवत् ॥८४॥

वाल्येति। वाल्यमेव आक्रीडः उद्यानविशेषः, तम्। सालशृङ्गवत् प्राकार-शिखरवत् ॥८४॥

चिन्तानां चलवृत्तीनां वनितानामिवावृत्तीः।
विगाहते भ्रमच्चेतो भ्रमरो व्रततीरिव ॥८५॥

चिन्तेति। भ्रमत्, चेतः-इति पदद्वयम्। विगाहते आलोडयति ॥८५॥

नानारसमयी चित्रवृत्तजम्बालपिच्छिला।
भीमायौवनभूर्येन तीर्णा, धीरः स दुर्लभः ॥८६॥

नानारसेति। भगवन्तं रामभद्रमपहाय नान्यमुपलभामहे-इति नातिशयोक्तिः ॥८६॥

अहो! प्रतिपदं पातः प्रतिपातमधोगतिः।
प्रत्यधोगति भिन्नार्तिरुत्कटे यौवनभ्रमे ॥८७॥

अहो इति। नातिच्छन्नेयं सारालंकारोक्तिः ॥८७॥

यदा हि परमां कोटिमाटङ्कयति यौवनम्।
तदा स्मरशरक्षुब्धं चित्तं क्रामति यौवतम् ॥८८॥

यदेति। यौवतं युवतीनां समूहम् ॥८८॥

असत्यं सत्यसंकाशमचिराद्विप्रलम्भदम्।
स्वप्नाङ्गनासङ्गसमं तारुण्यं दुरतिक्रमम् ॥८९॥

॥ इति यौवनगर्हा ॥

असत्येति । असत्यम् अचिरस्थायित्वाद् विद्युद्विलाससदृशमिति भावः । अचिरात् सद्यः । विप्रलम्भदं वियोगजनकम् ॥८६॥

॥ इति यौवनगर्हा ॥

(१०)

सविकारा हृद्यगन्धा सरसोल्लासभूमिका ।
मदिरा मदिराक्षी च केवलं व्यक्तितः पृथक् ॥९०॥

सविकारेति । मदिरा प्रसिद्धा । मदिरः पक्षिविशेषः, तद्वद् अक्षिणी यस्याः सा मदिराक्षी । मीनाक्षीवद् व्युत्पाद्यते । एषां द्वयी, केवलं व्यक्तितः व्यक्तेः गुणविशेषाश्रयमूर्तेः । आकारादिति यावत् । पृथक् पृथग्भूता । मादनगुणेन तु एकैवेति तात्पर्यम् ॥९०॥

परिष्कृतानेकरागैर्वल्लकीव स्वरोद्गमैः ।
काँस्कान्न चित्रयत्येषा तरुणान् हरिणानिव ॥९१॥

परिष्कृतेति । रागोऽनुरागः, गीतकं च । स्वरः सलेशभाषणाभिव्यक्तः सप्तसंख्यागश्च । चित्रवत् आश्चर्यवत् करोतीति चित्रयति । मोहयतीति भावः ॥९१॥

किरातेनेव कामेन वागुरा इव योषितः ।
कुरङ्गानिव संमुग्धानात्मसात्कर्तुमातताः ॥९२॥

किरातेनेति । वागुरा मृगबन्धनी-इत्यमरः । आत्मसात् स्वाधीनान् ॥९२॥

ललनाविपुलालाने मनोमत्तमतङ्गजः ।
रतिशृङ्खलया बद्धो मुहुर्माद्यन् विघूर्णते ॥९३॥

ललनेति । विघूर्णते कर्तव्याकर्तव्यं न पर्यालोचयतीत्यर्थः ॥९३॥

कायपल्वलमत्स्यानां स्वान्तकर्दमचारिणाम् ।
पुंसां दुर्वासनारज्जुर्योषा बडिशपिण्डिका ॥९४॥

कार्येति । वडिशं मत्स्यवेधनकण्टकः, तत्रत्या पिण्डिका ॥६४॥

मुखं गुहा स्तनौ गुल्मौ नितम्बो वालुकोच्चयः ।
नारी मरुस्थली यत्र म्रियन्ते कामुकाध्वगाः ॥६५॥

॥ इति स्त्रीजुगुप्सा ॥

मुखमिति । अहो ! विषयरसपानाज् ज्ञानरसपानस्येयती भिदा इति तात्पर्यम् ॥६५॥

॥ इति स्त्रीजुगुप्सा ॥

(११)

अपर्याप्तं हि बालत्वं बलात्पिबति यौवनम् ।
यौवनं च जरा पश्चादहो ! कर्कशता मिथः ॥६६॥

अपर्याप्तमिति । पिबति ग्रसति । अहो ! बाल्य-तारुण्य-वार्द्धकानामवस्था-विशेषाणां परस्परं कार्कश्यम् ॥६६॥

अनायासकदर्थिन्या जरया जीर्णतां गते ।
सपत्न्येवाहता योषिन्मतिः क्वापि पलायते ॥६७॥

अनायासेति । अन्यावस्था तु आयासेन कदर्थिनी । इयं जरा तावदना-यासेनेति । कदर्थनम् आत्मन्यवज्ञा । उपासकानां त्वेवं न भवतीत्यपि द्रष्टव्यम् । आहता अभिभूता ॥६७॥

शीर्णायां तनुवल्लर्यां गतमिन्द्रियगुच्छकैः ।
चित्रमाशारसा तृष्णा भावानभि युवायते ॥६८॥

शीर्णायामिति । गतमिति भावे क्तः । भावानिति–'अभिरभागे' (पा० सू० १।४।९१) इति कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां–'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' (पा० सू० २।३।८) इति द्वितीया । युवायते–युवतिरिवाचरतीति क्यङ् ॥६८॥

जाग्रज्जरासुधादीप्तं वपुरन्तःपुरान्तरम् ।
अशक्तिरार्तिरापच्च सुखमध्यासतेऽङ्गनाः ॥६९॥

जाग्रदिति। जाग्रती जरैव सुधा लेपनद्रव्यं, तया दीप्तं धवलम्। वपुरेव अन्तःपुरम् अन्तर्भवनम्, तदन्तरम्। अशक्तयादयः अङ्गनाः। सुखम् अकुतोभयम्। अध्यासते–'अधिशीङ्स्थासां कर्म' (पा० सू० १।४।४६) इत्याधारस्य कर्मसंज्ञा ॥९९॥

दृष्ट्वैवोत्कण्ठितेवाशु प्रगृह्य शिरसि क्षणम्।
प्रलुनाति जरा कायं कामिनी कैरवं यथा ॥१००॥

दृष्ट्वेति। उत्कण्ठिता उत्का समीपस्था च। शिरसि मूर्धनि अग्रभागे च। कैरवं चन्द्रकिरणविकासि कमलम् ॥१००॥

दुष्प्रेक्ष्यं दुरवस्थानं दुराधिव्याधिबान्धवम्।
अभ्यर्णमरणोद्गारं वार्धकं केन गृध्यते ॥१०१॥

॥ इति जराजुगुप्सा ॥

दुष्प्रेक्ष्यमिति। गृध्यते अभिकाङ्क्ष्यते ॥१०१॥

॥ इति जराजुगुप्सा ॥

(१२)

विकल्पकल्पनानल्पजल्पितैरल्पबुद्धिभिः।
भेदैरुद्धुरतां नीतः संसारकुहरे भ्रमः ॥१०२॥

विकल्पेति। ममेदं भोग्यम्, अहमस्य भोक्ता, इमानि च तत्साधनानि, अनेन इदम् इत्थं संपाद्य भोक्ष्ये, इदमद्य लब्धम्, इदं लप्स्ये; इत्येवमादिभिः विकल्पकल्पनैः अनल्पानि जल्पितानि येषां तैः। अल्पबुद्धिभिः मन्दैः, कर्तृभिः। भेदैः शत्रुमित्रोदासीनादिभिः। संसारकुहरे ब्रह्माण्डान्तरे भ्रमः उद्धुरतां दुरुच्छेदतां नीतः ॥१०२॥

सतां कथमिवास्थात्र जायते जालपञ्जरे।
शिशूनामेव संतुष्टिः फले मुकुरबिम्बिते ॥१०३॥

सतामिति। सतां विवेकिनाम्। अत्र जालपञ्जरे इन्द्रजालकल्पे आयतने। फले आम्रादिरूपे। मुकुरबिम्बिते दर्पणादौ प्रतिफलिते ॥१०३॥

इहापि भासते येषां सुभगा सुखभावना ।
तामप्याखुरिव ग्रन्थिं कालः कृन्तति सर्वतः ॥१०४॥

इहेति । इहापि एवंदुर्विलसितेऽपि ॥१०४॥

कालो जगन्ति सामान्याददन्नपि जिघत्सुकः ।
दृश्यसत्तामिमां सर्वां कवलीकर्तुमुद्यतः ॥१०५॥

कालेति । सामान्यात् सर्वसाधारण्यात् । जिघत्सुः अत्तुमिच्छुः जिघत्सुरशनायितः-इत्यमरः ॥१०५॥

विरञ्चिमूलब्रह्माण्डबृहद्देवफलिद्रुमम् ।
ब्रह्मकाननमाभोगि यः पराक्रम्य चेष्टते ॥१०६॥

विरञ्चीति । यः कालः । विरञ्चिः अपञ्चीकृतभूतात्मा मूलं यस्य तादृग्, ब्रह्माण्डमेव बृहन् देवः दैवतवर्गः, फलप्रदतया फली फलवान्, द्रुमः वृक्षः, यस्मिंस्तत् । 'जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम्' (पा० सू० १।२।५८) इति विकल्पेनैकवचनम् । ब्रह्मैव काननं, दुर्गमत्वान्महारण्यम् । आभोगि आभोगवत् । पराक्रम्य परिभूय । चेष्टते जृम्भते ॥१०६॥

जगज्जीर्णकुटीकीर्णान् निदधात्युग्रकोटरे ।
यः क्रमाद् गुणवल्लोकमणीन् मृत्युसमुद्गके ॥१०७॥

जगदिति । यः कालः । जगदेव जीर्णकुटी तत्र कीर्णान् विक्षिप्तान् । गुणवन्तो लोका एव मणयः, तान् । उग्रकोटरे भीषणकन्दरे । मृत्युरेव समुद्गकः संपुटकः, तत्र । क्रमाद्-अद्य श्वः परश्वः-इत्यादि क्रमेण । निदधाति निःक्षिपति ॥१०७॥

गुणैरापूर्यते यैव लोकरत्नावली भृशम् ।
भूपार्थमिव सा कण्ठे कृत्वाप्येतेन पात्यते ॥१०८॥

गुणैरिति । गुणैः शौर्योदार्यादिभिः तन्तुभिश्च । लोका एव रत्नानि, लोका रत्नानीव; तेषाम् आवली ॥१०८॥

चारयंश्चारहस्तेन कोणेष्वादित्यदीपकम् ।
कालो लोकालये कुत्र किमस्तीति विलोकते ॥१०६॥

चारयन्निति । चारः चारणम् । गतिरित्यर्थः । स एव हस्तः । कोणेषु अन्तरालेषु ॥१०६॥

भज्यते नावभग्नोऽपि दग्धोऽपि नहि दह्यते ।
दृश्यते नापि दृश्योऽपि कालो मायाविदेशिकः ॥११०॥

॥ इति कालापवादः ॥

भज्यतइति । मायावी मायी । देशिकः उपदेष्टा । ततः कर्मधारयः ॥११०॥

॥ इति कालापवादः ॥

(१३)

अस्योड्डामरचेष्टस्य दिष्टस्य क्रूरकर्मणा ।
अजातमिव भूतं च भावि चेदं चराचरम् ॥१११॥

अस्येति । उड्डामरा उद्भटा, चेष्टा लीला, यस्य सः तस्य । दिष्टस्य कालस्य ॥१११॥

अस्य विश्वंभरा पात्रं पारावाराः परिस्रुताः ।
अवदंशाः ककुब्नागा ब्रह्माण्डं पानमण्डपम् ॥११२॥

॥ इति कालविलासः ॥

अस्येति । परिस्रुताः मदिराः । अवदंशाः पानरुचिजनकभक्षणानि । ककुब्नागाः दिग्गजाः ॥११२॥

॥ इति कालविलासः ॥

(१४)

विष्वग् विश्वेषु निदधत्कालः स्वस्य करालताम् ।
कृतान्तरूपतां धत्ते शैलूष इव भूमिकाम् ॥११३॥

विष्वगिति । विष्वक् समन्ततः । भूमिकाम् रूपान्तरम् । भूमिका रचनायां स्यान्मूर्त्यन्तरपरिग्रहे—इति विश्वः ॥११३॥

नृत्यन्नितान्तरागीव नियत्या प्रियया समम् ।
लक्ष्यश्चित्रपदं क्रामन् भावे भावे रसं वहन् ॥११४॥

नृत्यन्निति । नियतिः कृतस्य कर्मणः फलावश्यंभावनियमः । चित्रपदं विचित्रचरणन्यासम् इति क्रियाविशेषणम् । भावः पदार्थः स्थायिभावश्च । लक्ष्यो दृश्यः ॥११४॥

अन्तरेण क्रियामस्य स्वपरिस्पन्दलक्ष्मणः ।
नान्यदालक्ष्यते रूपं न कर्म न समीहितम् ॥११५॥

अन्तरेणेति । अन्तरेण विना । स्वपरिस्पन्द एव लक्ष्म चिन्हं यस्य सः तस्य ॥११५॥

तारकासुमनोनद्धव्योमकुन्तलपक्षकम् ।
दीप्तिमांसलमार्तण्डचन्द्रमण्डलकुण्डलम् ॥११६॥
लोकालोकाचलश्रेणिवाचालक्षुद्रघण्टिकम् ।
इतस्ततो रणद्भीमविद्युद्वलयकङ्कणम् ॥११७॥
अनिलान्दोलनोद्धूतपुष्करावर्तचेलकम् ।
क्षुभ्यत्क्षोणिघनाघातभग्नशेषफणागणम् ॥११८॥
तददोऽन्योन्यसंघर्षोद्रेकदीर्णदिगन्तरम् ।
संवर्तवर्तनारब्धं दिव्यस्त्रीपुंसताण्डवम् ॥११९॥ (चक्कलकम्)

॥ इति कृतान्तविलसितम् ॥

तारकेत्यादि । तारका एव सुमनसः पुष्पाणि, व्योम एव कुन्तलपक्षकः चिकुरबन्धः । मार्तण्ड-चन्द्रमण्डले एव कुण्डले । अचलश्रेणिः एव क्षुद्रघण्टिका । विद्युद्वलयमेव कङ्कणं करभूषणम् । पुष्करावर्ताख्यमेघः एव चेलकम् । क्षुभ्यन्त्याः क्षोण्याः घनाघातेन भग्नः शेषफणागणः यस्मिंस्तत् । तददः स्त्रीपुंस-

लक्षणं ताण्डवम् । अन्योन्यस्य यः संघर्षोद्रेकः अभिभवेच्छातिशयः, तेन दीर्णानि भिन्नानि दिगन्तराणि यस्मिन् तत् । संवर्त–वर्तने प्रलयक्षणे आरब्धम् । दिव्ययोः स्त्रीपुंसयोः—'अचतुर—' (पा० सू० ५।४।७७) इति साधु । ताण्डवं नृत्यविशेषः । चक्कलकम् कालापकम् चतुर्भिः संवद्धमित्यर्थः । ॥११६–११६॥

॥ इति कृतान्तविलसितम् ॥

(१५)

एवं कालादिवृत्तान्तैर्दुरन्तैः कीलिता इव ।
कथं संसारचक्रेऽस्मिन्नाश्वासं तात ! दध्महे ॥१२०॥

एवमिति । कीलिताः यन्त्रिताः । तातेति विशिष्य विश्वामित्रं प्रति संबोधनम् ॥१२०॥

कालः कवलनाकल्यो दैवं दारुणचेष्टितम् ।
कृतान्तः कर्कशस्वान्तो वराकी जगती हता ॥१२१॥

कालेति । कवलनाकल्यः ग्रासकुशलः । जगती भुवनम् । जगती भुवने क्ष्मायां छन्दोभेदे जनेऽपि च—इति मेदिनी ॥१२१॥

आयुरत्यन्ततरलं मृत्युरेकान्तनिष्ठुरः ।
तारुण्यं तरुणीशीर्णं बाल्यं बालिशतापदम् ॥१२२॥

आयुरिति । बालिशतापदम् मौर्ख्यस्थानम् । बालिशश्च शिशौ मूर्खे, भूकेशः शैवले वटे—इति मेदिनी ॥१२२॥

लोकोऽभिलषितालोको बन्धवः स्नेहसिन्धवः ।
भोगा जगन्महारोगास्तृष्णाश्च मृगतृष्णिकाः ॥१२३॥

लोकेति । अभिलषितालोकः इष्टदर्शनः । आलोकस्तु पुमान् द्योते दर्शने वन्दिभाषणे—इति मेदिनी ॥१२३॥

द्विषन्त इन्द्रियाण्याशु सत्यं मिथ्यातिरस्कृतम् ।
रजोगुणहता दृष्टिस्तुष्टिर्नित्यमवस्तुनि ॥१२४॥

द्विषन्त इति । द्विषन्तः अमित्राः । द्विष अप्रीतौ । 'द्विषोऽमित्रे' (पा० सू० ३।२।१३१) इति शतृ । रजः गुणेषु मध्यमः पांसुश्च । अवस्तुनि प्रतिपिद्धे पदार्थे ॥१२४॥

ज्वलतीव जरा देहे वहतीव स्पृहा हृदि ।
मनो विलुठतीवान्तर्मुदिता करुणापि नो ॥१२५॥

ज्वलतीति । ज्वलति त्वरते । वहति एधते । विलुठति प्रक्रमते । मुदिता करुणापि वृत्तिः । नोदेतीति तात्पर्यम् । 'मैत्री-करुणा-मुदितो-पेक्षाणां सुख-दुःख-पुण्या-पुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्' (यो० द० १।३३) इति योग-सूत्रम् ॥१२५॥

सुलभो दुर्जनाश्लेषो दुर्लभः सज्जनाश्रयः ।
अहंकारकरातोद्यं नृत्यते ह्यभ्यसूयया ॥१२६॥

सुलभ इति । अहंकारकरे आतोद्यं वादित्रं यस्मिन् कर्मणि । नृत्यते इति भावे लट् ॥१२६॥

अनुरक्ताङ्गनालोललोचनालोकरञ्जितम् ।
मानसं विशदीकर्तुं विदुषापि न शक्यते ॥१२७॥

अनुरक्तेति । वैषयिको रागो दुष्परिहर इति तात्पर्यम् ॥१२७॥

परोपकारकारिण्या परार्तिपरितप्तया ।
स्वात्मशीतलया बुद्ध्या बुद्धो विद्वस्यते परम् ॥१२८॥

परोपकारेति । बुद्ध इति–'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' (पा० सू० ३।२।१८८) इति वर्तमाने क्तः । विद्वानिवाचरतीति विद्वस्यते । क्यङ् ॥१२८॥

भूयो भूयोऽपि भूयांसो दुराशापाशसंदिताः ।
दोषगुल्मकसारङ्गा विशीर्णा जन्मजङ्गले ॥१२९॥

भूय इति । भूय इति पुनरर्थेऽव्ययम् । जङ्गलं काननम् ॥१२९॥

अद्योत्सवोऽयमृतुरेष तथेह यात्रा
ते बान्धवाः सुखमिदं सविशेषभोगम् ।
इत्थं वृथैव कलयन् सुविकल्पजाल-
मालोलकोमलमतिर्गलति प्रकामम् ॥१३०॥

॥ इति दैवदुर्विलासः ॥

अद्येति । आलोला दोलायमाना, कोमला सुकुमारा । विवेकाक्षमेति यावत् मतिर्यस्य तादृक् । गलति विशीर्यते ॥१३०॥

॥ इति दैवदुर्विलासः ॥

(१६)

पर्यायसंक्रान्तरवीन्दुरत्न-
दीपप्रकाशोऽपि जगद्विलासे ।
न लक्ष्यते क्वापि तदर्थजातं
येनातिविश्रान्तिमुपैति चेतः ॥१३१॥

पर्यायेति । पर्यायः अहोरात्रविभागः । रवीन्दू एव रत्नदीपौ । अर्थो वस्तुविशेषः परमार्थतत्त्वं च ॥१३१॥

बाल्ये गते कल्पितकेलिलोले
मनोमृगे दारदरीषु जीर्णे ।
काये जराजर्जरतां प्रयाते
विद्यूयते केवलमेव मन्दः ॥१३२॥

बाल्य इति । मन्दः इति कर्त्तव्यताविचारमूढः ॥१३२॥

जरातुषारव्यथितां शरीर-
सरोजिनीं वीतरसामवेत्य ।
विनिःसृते जीवितचञ्चरीके
जनस्य संसारसरोऽवसन्नम् ॥१३३॥

जरेति । इदम् इतिकर्तव्यताविचारमौढ्यस्य फलं दर्शितम् ॥१३३॥

तृष्णासरित् सान्द्रतरप्रवाह-
पूरस्यदग्रस्तपदार्थपूगा ।
तटस्थसंतोषतरून् समन्तात्
समूलकापं कषतीव रुष्टा ॥१३४॥

तृष्णेति । पूरस्य स्यदो वेगः । पूगः वृन्दम् । पूगस्तु क्रमुके वृन्दे--इति मेदिनी । समूलकापं कषति-समूलं कषतीत्यर्थः । 'निमूलसमूलयोः कषः' (पा० सू० ३।४।३४) इति णमुलि-'कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः' (पा० सू० ३।४।४६) इति ॥१३४॥

तनूतरिस्तैजसतन्तुमूता
जगत्पयोधौ तरलं तरन्ती ।
उरुक्रमैरिन्द्रियनक्रवर्गै-
रभ्याहता हन्त ! निमज्जतीव ॥१३५॥

तनूतरीति । तनूः कायः । कायो देहः क्लीवपुंसोः स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूः इत्यमरः । तैजसतन्तुमूता रजोगुणबद्धा । मूङ् बन्धने-क्तः । उरुक्रमैः विपुल--क्रमणैः ॥१३५॥

दुःखेषु दूरास्तविषादमोहाः
सुखेष्वनुत्सिक्तमनोभिरामाः ।
सुदुर्लभा संप्रति सुन्दरीभि-
रनाहतान्तःकरणा महान्तः ॥१३६॥

दुःखेष्विति । अनुत्सिक्तम् अगर्वितम् ॥१३६॥

त्रिंशद्विपादां विषमामवस्था-
मुपाश्रितो दग्धवयोविरामे ।

भावान् स्मरन् स्वानिह धर्मरिक्तान्
जीवन्मृतो म्लायति गेहकोणे ॥१३७॥

विशदिति । दग्धवयसः यौवनहतकस्य विरामे अवसाने । भावान् अनुष्ठितान् इत्यर्थः । अन्यत्राप्युक्तम्—

'उत्क्रम्य विश्वतोऽङ्गात् तद्भागैकतनुनिष्ठिताहन्तः ।
कण्ठलुठत्प्राण इव व्यक्तं जीवन्मृतो लोकः ॥'

इति । अप्रयोजकतया परिवारोपेक्षणे वर्णितदशा सुप्रसिद्धैवेति भावः ॥१३७॥

समूलघातं निहते सपत्ने
पत्नीकृतायां च नयेन लक्ष्म्याम् ।
भुङ्क्ते हि सौख्यानि पराणि यावत्
तावन्मृतिर्मार्गति कामिनीव ॥१३८॥

समूलेति । समूलघातं समूलमित्यर्थः । 'समूलाकृतजीवेषु हन्कृञ्ग्रहः' (पा० सू० ३।४।३६) इति णमुल् । ऐहिकसुखसाधनोपार्जनप्रवणस्य आमुष्मिकावसरो नायातीति भावः ॥१३८॥

प्रियासुभिः कालमुखं क्रियन्ते
जनैडकास्ते हतकर्मबद्धाः ।
यैः पीनतामेव बलादुपेत्य
शरीरबाधेन न ते जयन्ति ॥१३९॥

प्रियासुभिरिति । प्रियासुभिः प्रियप्राणैः, यैः कर्मभिः, शरीरबाधेन शरीरपीडया, बलाद् हठात्, पीनताम् एव पुष्टिम् एव, उपेत्य स्वीकृत्य, ते जनाः, एडकाः मेषाः इव; विवेकशून्यत्वात् । 'उपमानानि सामान्यवचनैः' (पा० सू० २।१।५५) इति समासः । जनैडकाः ऐहिकामुष्मिकफलकांक्षिणः । कालमुखं कालग्रासं यथा स्यात् तथा क्रियन्ते । कर्मिणो निष्पाद्यन्ते इत्यर्थः । ते हतेन क्षयिणा । नश्वरफलघटकेनेत्यर्थः । कर्मणा व्यापारेण बद्धाः नियन्त्रिताः सन्तः न जयन्ति—जीवन्मुक्त्यादिमार्गस्खलितत्वात् कृतकृत्या न भवन्तीति तात्पर्यम् ।

'अविद्यायामन्तरे वर्तमाना—' (मुण्ड० उ० १।२।८) इति। गीतासु च—'कामात्मानः स्वर्गपरताः—' (२।४३) इति च। प्राञ्चस्तु—नरमेधा इत्यादि वहु व्याचक्षते ॥१३६॥

इतस्ततश्चोपनता मुधैव
समानसंकेतनिबद्धभावा ।
मेलासमासङ्गसमा जनानां
कलत्रमित्रव्यवहारखेला ॥१४०॥

इतस्तत इति। इतस्तत इत्यव्ययं यत्रतत्रार्थे। मेला—मेलके समौ—इति मेदिनी। क्रीडा खेला च कूर्दनम्—इत्यमरः ॥१४०॥

प्रदीपहेतिष्विव भूरिशुक्र—
दशास्वतिस्नेहनिबन्धनीषु ।
संसारदोलासु चलाचलासु
न ज्ञायते मर्म विमोहिनीषु ॥१४१॥

प्रदीपेति। अर्चिर्हेतिः शिखा स्त्रियाम्—इत्यमरः। दशावस्था दीपवर्त्योः—इति मेदिनी। स्नेहः स्यात् पुंसि तैलादिरसद्रव्ये च सौहृदे—इति मेदिनी ॥१४१॥

संसारसंरम्भकुचक्रिकेयं
प्रावृट्पयोबुद्बुदभङ्गुरापि।
असावधानस्य विचारणासु
चिरस्थिरप्रत्ययमातनोति ॥१४२॥

संसारेति। चिरस्थिरप्रत्ययं स्थायिज्ञानम्। असावधानस्य चलचित्तस्य ॥१४२॥

मनोहरस्याप्यतिदोषवृत्ते—
रन्तर्विनाशाय समुत्थितस्य ।
विषद्रुमस्येव जनस्य सङ्गा—
दासाद्यते संप्रति मूर्छनैव ॥१४३॥

मनोहरेति । विषद्रुमः कारस्करो वृक्षः । मूर्छना मूर्छा ॥१४३॥

कास्ता दृशो यासु न सन्ति दोषाः
कास्ता दिशो यासु न दुःखदाहः ।
कास्ताः प्रजा यासु न भङ्गुरत्वं
कास्ताः क्रिया यासु न नाम माया ॥१४४॥

कास्ता इति । दृशः दृष्टयः । वैषयिकज्ञानानीत्यर्थः । दुःखदाहः सुखसंचाराभावः । भङ्गुरत्वं नश्वरभावः । माया अनाश्वासः ॥१४४॥

सर्वत्र पाषाणमया महीध्राः
मृदा मही दारुभिरेव वृक्षाः ।
मांसैर्जनाः पौरुषबद्धभावा
नापूर्वमस्तीह विकारशून्यम् ॥१४५॥

सर्वत्रेति । प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम् । इत्यभेदे तृतीया । पौरुषबद्धभावाः पुरुषार्थाहंकृताः । किमपि विकारशून्यम् अपूर्वं दृश्यं नास्ति । वाचारम्भणं विकारो नामधेयमिति तात्पर्यम् ॥१४५॥

जनः कामारूढो विविधकुकलाकल्पनपर-
स्ततोऽन्यो दुष्प्रापो जगति सुजनोऽनर्घचरितः ।
क्रिया क्लेशावेशा विधुरविधुरा लौकिककथा
न जाने नेतव्या कथमिव दशा जीवनमयी ॥१४६॥

॥ इति निःश्रेयसविरोधिभावानित्यता ॥

जन इति । कामारूढः स्वार्थपरायणः । अनर्घचरितः अमूल्यचारित्रः । लौकिककथा लोकयात्रा । कथमिव कया चर्यया । अहो ! दुःखं दुःखमिति भावः । शिखरिणी छन्दः ॥१४६॥

॥ इति निःश्रेयसविरोधिभावानित्यता ॥

(१७)

विपर्ययमिमा यन्ति भूतभौतिकभूतयः ।
धान्यधान्य इवाजस्रं पूर्यमाणाः पुनः पुनः ॥१४७॥

विपर्ययेति । यन्ति यान्ति । इण् गतौ । धान्यधान्यः धान्यकुम्भ्यः ॥१४७॥

प्रतिक्षणविपर्यासवाहिना निहतात्मना ।
जगद्भ्रमेण के नाम मतिमन्तो न मोहिताः ॥१४८॥

प्रतिक्षणेति । निहतात्मना अधःपातितात्मना ॥१४८॥

क्षणं विपत् क्षणं संपत् क्षणं जन्म क्षणं मृतिः ।
विलक्षणप्रवाहेऽस्मिन् मुने ! किमिव न क्षणम् ॥१४९॥

क्षणमिति । क्षणमित्यत्यन्तसंयोगे द्वितीया । अहो ! सर्वं नश्वरमिति भावः ॥१४९॥

घटस्य पटता दृष्टा पटस्यापि घटात्मता ।
तन्न यन्न विपर्यासि दृश्यते रोदसीतनौ ॥१५०॥

घटस्येति । घटस्य विशीर्णस्य क्षेत्रे कार्पासपरिणामेन पटता दृष्टा—इत्यर्थः । एवं पटस्यापि परिणामवशेन घटता समुन्नेया ॥१५०॥

इतश्चान्यदितश्चान्यद् वस्त्वेवं विदधद् विधिः ।
क्रीडन् शिशुरिवैकान्तं न खेदं प्रतिपद्यते ॥१५१॥

॥ इति सर्वभावाविरतविपर्यासः ॥

इतश्चेति । यदेकत्र ततोऽन्यत्र विलक्षणमिति भावः ॥१५१॥

॥ इति सर्वभावाविरतविपर्यासः ॥

(१८)

इति मे दोषदष्टयैव क्लिष्टे मानसकोरके ।
उत्पद्यन्ते न भोगाशा मृगतृष्णा इव ह्रदे ॥१५२॥

इतीति। इति हेतुप्रकरणप्रकाशादिसमाप्तिषु—इत्यमरः। मे मम रामस्य। दोषदृष्ट्यैव सर्वत्रासमञ्जस्यपर्यालोचनेनैव ॥१५२॥

जन्मावलिवरत्रायामिन्द्रियग्रन्थयो दृढाः।
निपुणं येन मुच्यन्ते जितं तेन महात्मना ॥१५३॥

जन्मेति। नध्री वध्री वरत्रा स्यात्—इत्यमरः। मुच्यन्ते भिद्यन्ते। जितमिति भावे क्तः ॥१५३॥

इदानीं स्वच्छया बुद्ध्या चित्तं चेन्न चिकित्स्यते।
पुनरेतच्चिकित्साया ब्रह्मन्नवसरः कदा ॥१५४॥

इदानीमिति। चिकित्स्यते नैरुज्यीक्रियते। कित निवासे रोगापनयने च ॥१५४॥

वासनाजालजटिला दुःखसंकटसंकुला।
निपातोत्पातभूयिष्ठा भीमा ह्यज्ञानताटवी ॥१५५॥

वासनेति। संकटं ना तु संबाधः—इत्यमरः ॥१५५॥

आयुर्वायुविघट्टिताभ्रपटलीलम्बाम्बुवद् भङ्गुरं
भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदामिनीचञ्चलाः।
लोला यौवनलालना जलरयोद्वेल्ला इति व्यामृशन्
मुद्रामेव दृढामकार्षमधुना चित्ते चिरं शान्तये ॥१५६॥

॥ इति सकलपदार्थानास्था ॥

आयुरिति। उद्वेल्ला वारिवेगवदुद्भटा इत्यर्थः। विषयविरतिलक्षणां मुद्रां संनिवेशविशेषम्। अकार्षं व्यधाम् ॥१५६॥

॥ इति सकलपदार्थानास्था ॥

इदानीं परितापमुपसंहरन् प्रयोजनं दर्शयति—

प्रयोजनं तु—'यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत् प्रयोजनम्' (१।१।२४) इत्यक्षपादः।

(१६)

इत्थमभ्युत्थितानर्थसार्थसंकटकोटरे ।
जगन्निपतितं वीक्ष्य मूर्छतीव मतिर्मम ॥१५७॥

इत्थमिति । जगन्निपतनमेव लक्ष्मीनिराकरणादिना प्रघट्टकजातेन प्रपञ्चितम् ॥१५७॥

तदतुच्छमनायासमनुपाधि श्रमापहम् ।
किं विश्रान्तिपदं तात ! यत्र शोको न विद्यते ॥१५८॥

तदतुच्छमिति । अनुपाधि उपाधिशून्यम् ॥१५८॥

सर्वारम्भसमारूढाः सुजना जनकादयः ।
व्यवहारपरा एव कथं निःश्रेयसं गताः ॥१५९॥

सर्वारम्भेति । जनकादय इत्यन्तेन प्रवृत्तावेव निवृत्तिलक्षणो धर्मो जिज्ञास्य इति स्पष्टम् । जनको विदेहः । स हि प्रथमो विवक्षितः, रघुयदुवत् । एवमादीनां तत्संतानाभिधाने तु लक्षणैव ॥१५९॥

कां दृष्टिं वा समालम्ब्य भवन्तो वीतकल्मषाः ।
जीवन्मुक्ता महाभागा विचरन्ति क्षमान्तरे ॥१६०॥

कां दृष्टिमिति । विचरन्ति व्यवहरन्ति ॥१६०॥

तदेतदुच्यतां तत्त्वं मह्यमाधिमुपेयुषे ।
स्निग्धमम्बुभृतं हित्वा चातकोऽन्यं न नाथति ॥१६१॥

॥ इति प्रयोजनम् ॥

तदेतदिति । तत्त्वं परमार्थः । स्निग्धं वृष्ट्युन्मुखम् । नाथति याचते ॥१६१॥

अहह ! लुलति जीवितपल्लवाग्रलग्नपानीयपृषन्निवहे, पतति सज्जनसङ्गविटपवृन्तश्लथकुसुमसमूहे, सर्पति दुर्वासनापवमानझंकारे,

स्फुरति दुराशासौदामिनीदामवारे, उद्यति मोहमिहिकाविताने, गर्जति गर्वबलाहकप्रताने, मूर्छति लोभकेकिकेकाकलकले, तावद् विषमभवद-वानलतापप्रशमनस्य कः प्रयत्नः का शैली किं विधानमिति यथायथं सम्यङ् निवेदितवान् रामभद्रो मुनिवृन्दारकाणाममीषां विश्वामित्रपुरस्सराणां पुरस्ताद् विविदिषुस्तूष्णीमासांबभूव ॥१६२॥

अहहेति। अहहेत्युद्भुते। जीवितं जीवनमेव पल्लवाग्रलग्नपानीयपृषन्निवहः, तस्मिन् लुलति दोलायमाने सति। एवमग्रेऽपि योजनीयम्। तत्र—पवमानः प्रभञ्जनः। वारः समुदायः। निवहावसरौ वारौ—इत्यमरः। मिहिका प्रालेयम्। केकी मयूरः। तावदिति वाक्यालंकारे। विषमः उच्चावचः। प्रयत्नः प्रकृष्टो यत्नः। शैलीपरिभाषाशैलीसंकेतसमयकाराश्चेति त्रिकाण्डशेषः। विधानं विधिः। मुनिवृन्दारकाणामिति 'वृन्दारकनागकुञ्जरैः पूज्यमानम्' (पा० सू० २।१।६२) इति समासः। विविदिषुः वेत्तुमिच्छुः। आसांबभूव ॥१६२॥

अत्रान्तरे भास्वत्प्रकाशावेशविकसन्मुखी कण्टकितावयवनाला स्फुरदामोदरससंभृता सरोजिनीव, विमलविचारणापास्तसमस्तभववेदना मुहूर्तममृतपूरप्लावितेव, प्रमेयावधाननिष्पन्दा श्रवणनिविष्टेतरेन्द्रियग्रामेव, जननीरसा शिशुतनुरिव, परमार्थपरायणा कविसूक्तिरिव, रामचित्तापि विरामचित्ता संगता समस्ता जनता जहर्ष ॥१६३॥

अत्रान्तर इति। भास्वान् सूर्यः प्रकाशश्च। कण्टको रोमाञ्चोऽपि। आमोदः आनन्दः सौरभं च। इवेत्युत्प्रेक्षायाम्। निष्पन्दो निश्चलः। श्रवणनिविष्टेतरेन्द्रियग्रामा श्रवणैकपरायणा। जने लोके नीरसा। जनन्याः रसो यस्यां सा। परलोकः वैरिजनः ब्रह्मादिलोकान्तरं च। मुक्ताः जीवन्मुक्ताः मौक्तिकानि च। परमार्थः तत्त्वज्ञानं वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यतातात्पर्यात्मा च। विरोधपरिहारे विराम उपरामः। जहर्ष मुमुदे ॥१६३॥

तदनु ससाधुवादसंलापं देवलोकविसृष्टा, सुरतरुकुसुमकोशस्रवन्मधुबिन्दुकरम्बिता, अनुचलल्लोललोलुभलोलम्बमण्डलगुञ्जिता, प्रसृमरमधु-

रामोदमोदमानजनमानसा, उद्ग्रीवनागरवर्गावलोकिता, चरणपल्लवद्वयसी, परिष्कृतपरिषन्मणिकुट्टिमा, अदृष्टपूर्वा, उन्मिषत्प्रभाजालमांसला आयामिनी कर्बुरा रत्नपङ्क्तिरिव पुष्पवृष्टिरा च मुहूर्तचतुर्भागाद् विहायसः पपात ॥१६४॥

तदन्विति । करम्बिता मिश्रिता । लोलम्बाः भ्रमराः । प्रसृमरो विसृत्वरः । चरणपल्लवद्वयसी । प्रमाणे द्वयसच्-ङीप् । कुट्टिमोऽस्त्री निबद्धा भूः उन्मिषदित्यादिविशेषणत्रयं रत्नपङ्क्तौ पुष्पवृष्टौ संगमनीयम् । आ च इति पृथक्पदम् । विहायसः आकाशात् ॥१६४॥

तत्कालमिह परस्परपरामर्शसंघृष्टकृष्णाजिना, यज्ञोपवीतिनी, लोलाक्षमालावलया, कमण्डलुधारिणी, पिशङ्गजटाजूटा, प्रसरद्दीप्तिवितानतारतम्येन काचन सवितरन्ती, काचन चित्रभानवन्ती, काचिदिन्दवन्ती, काचित्तारकायन्ती, काचन पुनरुडूयमाना यदृच्छयोपस्थिता दिव्या मुनिपरम्परा यथान्यायमुपवेशिता अभिमतरसां साध्वीं दाशरथिगवीमेव मुहुर्मुहुरन्योन्यं श्लाघमानावतस्थे ॥१६५॥

तत्कालेति । अक्षो गुलिका । सवितरन्ती सवितारमिवाचरन्ती । चित्रभानवन्ती चित्रभानुर्विभावसुस्तमिवाचरन्ती । इन्दवन्ती इन्दुमिवाचरन्ती । तारकायन्ती तारकामिवाचरन्ती । सवित्रादिशब्दाद् आचारक्विबन्तात् शतरि ङीपि नुमि च सवितरन्तीत्यादि । उडूयमानेति उडु लघुतारकमिव आचरतीति क्यङि शानचि च रूपम् । यदृच्छया स्वारसिक्या इच्छया ॥१६५॥

विदन् द्विजाग्र्यो हि मुनित्वमीयात्
तद् बाहुजन्मा जनकत्वमीयात् ।
वणिक् तुलाधारसमत्वमीयाज्
जनश्च शूद्रोऽपि च मुक्तिमीयात् ॥१६६॥

विदन्निति । द्विजाग्र्यो ब्राह्मणः । बाहुजन्मा क्षत्रियः । जनको सीरध्वजो विदेहः यत्संबन्धात् भगवती सीता जानकी वैदेहीति व्यपदिश्यते । वणिग् वैश्यः । तुलाधारकथा महाभारते (१२।२६०।८) इति । शूद्रः पादजः न तु धर्मध्वज-व्याख्यानेन मूर्खो व्यक्तिविशेषः ॥१६६॥

तातश्रीसरयूप्रसादचरणस्वर्वृत्तसेवापरो
मातृश्रीहरदेव्यपारकरुणापीयूषपूर्णान्तरः ।
साकेतापरभागबद्धवसतिर्दुर्गाप्रसादः सुधी-
रास्ते तेन कृतेऽत्र रामचरिते गुच्छो द्वितीयो गतः ॥१६७॥

॥ इति श्रीमति रामचरिते वासिष्ठनिर्यासे वैराग्यप्रकरणं नाम प्रथमो गुच्छकः । आदितो द्वितीयः ॥

अथ तृतीयो गुच्छकः ।

अथ तथाभूतायां समितिसुधर्मायां स भगवान् विश्वामित्रः पुरोगतं रामभद्रं प्रीत्येदमभ्यभाषत—अये ! ज्ञानवतां वर !! भवता स्वबुद्ध्यैव सर्वं व्यज्ञायि । केवलं स्वभावशुद्धे भावत्के प्रतिभाने मुकुरे मनाङ्मार्जनमिव स्तोकमुपदेशासञ्जनमुपयुज्यते । अहो ! मुनिवृन्दिष्टाः !! ज्ञेयं ज्ञातमनेन रघुवीरेण यदस्मै सुमेधसे रोगा इव भोगा न रोचन्ते ॥१॥

अथेति । अथ रामभद्रस्य परितापनिवेदनानन्तरम् । समितिरेव सुधर्मा देवसभा तस्याम् । अये इति कोमलामन्त्रणे अव्ययम् । व्यज्ञायि अवेदि । प्रतिभाने ज्ञाने । आसञ्जनम् आसङ्गः ॥१॥

ज्ञातज्ञेयस्य मनसो नूनमेतद्धि लक्षणम् ।
न स्वदन्ते यदेतस्मै भोगाः स्वर्गागता अपि ॥२॥

ज्ञातेति । स्वदन्ते रोचन्ते ॥२॥

भोगवासनया बन्धः शान्तया त्वस्य तानवम् ।
वासनातानवं राम ! मोक्ष इत्युच्यते बुधैः ॥३॥

भोगेति । वासना शुद्धा मलिना चेति प्रागुक्तम् । तत्र शुद्धामभिप्रेत्य संसारयात्रासूत्रमेतत् ॥३॥

इदानीं केवलीभावविश्रान्तिं समपेक्षते ।
रामबुद्धिः शरल्लक्ष्मीः स्वभावसुषमामिव ॥४॥

इदानीमिति । केवलीभावः कैवल्यम् । तत्र विश्रान्तिं विश्रमम् । रामबुद्धिः शरल्लक्ष्मीरिति व्यस्तरूपकम् । स्वभावसुषमामात्मप्रसादम् ॥४॥

अङ्ग ! भगवन् !! वसिष्ठ !!! अस्य महात्मनो मनोविश्रान्त्यै रघुकुलगुरुणा श्रीमतैव युक्तयः प्रस्तूयन्ताम् । कच्चित् स्मरसि ब्रह्मयोने ! यदावयोर्वैरोपशमाय निःश्रेयसाय च निषधाद्रौ भगवता ब्रह्मणा स्वय-

मुपदिष्टं ज्ञानम् । येन च युक्तिमता भास्वता श्यामेव संसारवासना सद्यः शममुपयाति । एवं प्रणयपेशलं व्याहरति विश्वामित्रे तत्र समवेताः सर्वे तमेवार्थमभिननन्दुः । तदनु वसिष्ठोऽपि त्रिकालदर्शी महातेजाः—अङ्ग ! सकलमविकलं स्मरामीति हर्षमाणो ब्रह्मनिष्ठं ब्रह्मोपज्ञं ब्रह्मोद्यं तज्ज्ञानमुपदेष्टुमुपाक्रमत—॥५॥

अङ्गेति । श्रीमतेत्यत्र तपोज्ञानसमृद्धिः श्रीशब्दार्थः । प्राशस्त्ये मतुप् । येन ब्रह्मोपदिष्टज्ञानेन । ब्रह्मनिष्ठं ब्रह्म कारणरूपम् । ब्रह्मोपज्ञं ब्रह्मा कार्यब्रह्मा । 'उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम्' (पा. सू. २।४।२१) इति समासः । ब्रह्म उपनिषदः उपचारात् तद्वदनम् । निरूपणमिति यावत् । वदः सुपि क्यप् च ॥५॥

रामभद्रेण प्रथमपरितापादौ—'किं नामेदं बत सुखं येयं संसारसंगतिः । जायन्ते मृतये यत्र म्रियन्ते जातये जनाः ॥' इत्यादि यदुक्तं तद् यथाप्रतिपत्तिसौकर्यमभिधातुं भगवान् वसिष्ठः- 'परमार्क-' इत्यादिना समुपक्रमते—

(१)

परमार्कप्रकाशान्तस्त्रिलोकीत्रसरेणवः ।
उत्पत्योत्पत्य ये लीनास्ते ह्यसंख्या रघूत्तम ! ॥६॥

परमार्केति । हे रघूत्तम ! रघुषु अवतंसभूत ! राम !! परमः अपरिच्छिन्नः अर्कप्रकाशः आत्मप्रकाशः । अनस्तमितभात्मक इति यावत् । एवं च आत्मा चासौ प्रकाशश्चेति व्यक्तमेव । श्रूयते च मुण्डके—

"न यत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनु भाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥" (मुंड २ खं. ११)

इति । एवंभूतस्य परमार्कप्रकाशस्य अन्तः अवकाशे । ये त्रिलोकीत्रसरेणवः त्रयो लोका एव परिच्छिन्नप्रमाणतया त्रसरेणुकल्पाः । त्रसरेणुस्तु—

'जालान्तरगते भानौ यत् सूक्ष्मं दृश्यते रजः ।
प्रथमं तत् प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते ॥'

इत्येवमादिपरिभाषितः। यथाकालम् उत्पत्योत्पत्य यथान्यायम् उत्पद्योत्पद्य इति तात्पर्यम्। लीनाः तिरोहिताः। ते हि असंख्याः संख्यातुमनर्हाः। असंख्येया इत्यर्थः। त्रिलोकीत्युपलक्षणम्। अनेककोटिब्रह्माण्डा अपि द्रष्टव्याः। अनेककोटयः ब्रह्माण्डाः येषां ते। अभिमन्यमानत्वादिरूपः संबन्धः षष्ठ्यर्थः। विकारषोडशान्तर्वर्तिपञ्चीकृतस्थूलभूतकार्यो हि ब्रह्माण्डः। तदभिमानी विराडुच्यते। ब्रह्माण्डान्तर्वर्तिसमष्टिलिङ्गशरीराभिमानी स्वराट्। तदुभयकारणाव्याकृताभिमानी सम्राट्। तदुक्तम्—

'प्राधान्येन विराडात्मा ब्रह्माण्डमभिमन्यते।
स्वराट् स्वरूपमुभयं सम्राडित्यब्रवीच्छ्रुतिः॥'

इति ॥६॥

वर्तमानाश्च ये सन्ति तेऽपीमे चित्रदर्शनाः।
संख्यातुं नहि शक्यन्ते भाविनां तु कथैव का ॥७॥

वर्तमानेति। ये च वर्तमानाः अनुभूयमानाः त्रिलोकीत्रसरेणवः सन्ति। ते अपि इमे चित्रदर्शनाः विलक्षणावस्थानाः। नहि संख्यातुं परिच्छेत्तुं शक्यन्ते पार्यन्ते। भाविनां भविष्यतां तु कथैव का। दूरापास्तेत्यर्थः॥७॥

तिर्यङ्मानुषदेवेषु यः कश्चिन्नाम नश्यति।
यस्मिन्नेव प्रदेशेऽसौ तत्रैवेदं प्रपश्यति ॥८॥

तिर्यगिति। तिर्यगादिषु यः कोऽपि यस्मिन् प्रदेशे नश्यति तस्मिन्नेव असौ प्रत्यगात्मा इदं दृश्यजातं पश्यतीत्यर्थः॥८॥

आतिवाहिकनाम्नान्तः स्वहृद्येव जगत्त्रयम्।
व्योम्नि चित्तशरीरेण व्योमात्माऽनुभवत्यजः ॥९॥

आतिवाहिकेति। अजो व्योमात्मा शरीरी अन्तः स्वहृदि व्योम्नि एव आतिवाहिकनाम्ना चित्तशरीरेण जगत्त्रयं यथावासनमनुभवति। एतत्परलोकयात्रानिर्वाहकं शरीरम् अतीन्द्रियत्वात् सूक्ष्मम्, अनुमेयत्वाल्लिङ्गम्, भौतिकमात्राघटितत्वाद् आतिवाहिकम्, इति च व्यपदिश्यते। उक्तं च–

'पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितम् ।
अपञ्चीकृतभूतोत्थं सूक्ष्माङ्गं भोगसाधनम् ॥' इति ॥९॥

एवं मृता म्रियन्ते च मरिष्यन्तीति निश्चितम् ।
यथावासनमुत्पन्ना भूतग्रामाः पृथक् पृथक् ॥१०॥

एवमिति । एवं मृता—इत्यन्तेन लोकसंचरणमेव व्युत्पादितम् ॥१०॥

संकल्पकल्पनाक्लृप्तमनोराज्यविलासवत् ।
इन्द्रजालकलाकीर्णमिथ्यार्थप्रातिभासवत् ॥११॥
स्वप्नसंवित्तिसंदब्धव्योमापणविहारवत् ।
एतज्जगत्संसरणं स्वान्तरेवानुभूयते ॥१२॥ (युग्मकम्)

संकल्पकल्पनेत्यादि । संकल्पकल्पनेति युग्मकेन जगत्संसरणप्रक्रियायाः सुखावबोधार्थं दृष्टान्तनिरूपणम् । तत्र संकल्पकल्पनाभिः क्लृप्तं सज्जितं यन् मनोराज्यं तद्विलासवद् उपभोगवत् । इन्द्रजालकलाभिः साम्बरमायाभिः कीर्णो विस्फारितः मिथ्यार्थः प्रातिभासिकवस्तुकलापः तत्प्रतिभासवत् प्रतिभानवत् । जगतो नश्वरत्वादिति तात्पर्यम् । स्वप्नसंवित्त्या स्वप्नकालिकप्रकाशेन संदब्धः घटितः यः व्योमापणः तद्विहारवत् चङ्क्रमणवत् ॥११-१२॥

तत्रातिसक्तियोगेन तत्रैव घनतां गतः ।
इह लोकोऽयमित्येव जीवाकाशे विजृम्भते ॥१३॥

तत्रेति । अतिसक्तिः अभिनिवेशः । घनतां पञ्चीकरणेन दार्ढ्यम् ॥१३॥

पुनस्तत्रैव जन्मेहामरणाद्यनुभूतिमान् ।
मृतश्च मन्यते तत्र परलोकं तथा पुनः ॥१४॥

पुनरिति । ईहा जन्मोत्तरं मरणपर्यन्तं चेष्टा ॥१४॥

तदन्तरन्ये भूयांसस्तेषामन्तस्तथापरे ।
संसृज्यन्तेऽत्र संसारे कदलीदलपीठवत् ॥१५॥

तदन्तरिति । तदन्तः वासनाभ्यन्तरे । कदलीदलस्य पीठानि आधारभूताः कदलीत्वचः तद्वत् ॥१५॥

न भूम्यादिमहाभूतश्लेपा न च जगत्क्रमाः ।
अहो ! मृतानां तत्रापि तथाप्येषां जगद्भ्रमाः ॥१६॥

न भूम्यादीति । तत्रातिसक्तियोगेनेति पूर्वार्धस्यैवायं प्रपञ्चो लोकानास्थाप्रयोजकः ॥१६॥

अविद्यैव ह्यनन्तैषा नानाप्रसरशालिनी ।
जडानां निम्नगा दीर्घा सर्गकल्लोलमालिनी ॥१७॥

अविद्येति । 'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या' (२।५) इति सूत्रिता अविद्या । तत्र दृष्टान्तः—जडानामिति । जडानां मूढानां वारीणां चेति श्लिष्टम् ॥१७॥

अगाधे परमाम्भोधौ रामैताः सृष्टिवीचयः ।
भूयो भूयोऽनुवर्तन्ते पूर्णेन्दाविव चन्द्रिकाः ॥१८॥

अगाधेति । परमाम्भोधौ अपरिच्छिन्नात्मनि—इत्यर्थः ॥१८॥

आश्वस्तान्तःकरणो
ध्वस्तविकल्पः स्वरूपसारमयः ।
परमशमामृतसुहितो
विकसति विद्वान्निरावरणः ॥१९॥

॥ इति भूयोभूयः सर्गः ॥

आश्वस्तेति । आधिकारिकादिभोगवशेन शरीरवानप्यशरीरी जीवन्मुक्त इति तात्पर्यम् ॥१९॥

॥ इति भूयोभूयः सर्गः ॥

(२)

सदेहत्वेऽप्यदेहत्वे देहिनो मुक्तता समा ।
सोर्मित्वे चाप्यनूर्मित्वे वारिणो वारिता यथा ॥२०॥

सदेहत्वेति । सतरङ्गस्यातरङ्गस्य जलाशयस्य इव जीवन्मुक्तस्य विदेहमुक्तस्य च तुल्यैव मुक्ततेति भावः ॥२०॥

न बोधरूपयोर्भेदः सदेहादेहमुक्तयोः ।
सस्पन्दो ह्यथवाऽस्पन्दो मरुदेष न चामरुत् ॥२१॥

न बोधेति । दृष्टान्तस्य साकारत्वे कदाचिद् दार्ष्टान्तिके भ्रमः स्यादिति तन्निरासार्थं निराकार दृष्टान्तमुपन्यस्यति—न बोधरूपयोर्भेद इति । नहि सस्पन्दोऽस्पन्दश्च मरुत् स्वरूपतो भिद्यत इति भावः ॥२१॥

सदेहा वा विदेहा वा मुक्तता विषये नहि ।
अनास्वादितभोगस्य कुतो भोज्यानुभूतयः ॥२२॥

सदेहेति । स्यादेतद्, यदि शरीरादिदृश्ये मुक्तता भवेदित्यर्थः ॥२२॥

सर्वमेव हि संसारे पौरुषादेव लभ्यते ।
न तादृक् किंचिदप्यत्र यदलभ्यमुदीर्यते ॥२३॥

सर्वमिति । नित्यलब्धस्यात्मनो लाभे दृश्यवारणार्थं पुरुषार्थं प्रशंसतीत्यर्थः ॥२३॥

शास्त्रोपदिष्टमार्गेण यद् देहेन्द्रियचेष्टितम् ।
तत् पौरुषं तत् सफलमन्यदुन्मत्तजृम्भितम् ॥२४॥

शास्त्रेति । एवंस्वरूपं पौरुषं पौरुषं भवतीति भावः ॥२४॥

प्राक्तनाद्यतने गीते पौरुषे पुरुषर्षभ ! ।
वृद्धो यूनेव पूर्वं हि परेण परिभूयते ॥२५॥

प्राक्तनेति । उक्तस्वरूपमेवाद्यतनं पौरुषं शिथिलमूलं प्राक्पौरुषं पराभवतीति तात्पर्यम् ॥२५॥

यत्नवद्भिर्दृढाभ्यासैः प्रज्ञोत्साहसमन्वितैः ।
गिरयोऽपि निगीर्यन्ते कैव प्राक्पौरुषे कथा ॥२६॥

यत्नवदिति । दृश्यवारणार्थमेव उत्साहप्रयत्नाभ्यासप्रभृतिलक्षणं पौरुषं प्रपञ्चयतीत्यर्थः ॥२६॥

पौरुषेण प्रयत्नेन त्रैलोक्यैश्वर्यभास्वराम् ।
कश्चित् प्राणिविशेषो हि विन्दति स्म महेन्द्रताम् ॥२७॥

॥ इति पौरुषम् ॥

पौरुषेणेति । अहो ! तदिदं पौरुषम् इयद् वर्ण्यते यत्प्रभावेण इन्द्रशब्दार्थोऽपि महेन्द्रतायोगी । मीमांसायां तु इन्द्रमहेन्द्रशब्दौ भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तौ स्फुटावेव ॥२७॥

॥ इति पौरुषम् ॥

(३)

प्रवृत्तिरेवं प्रथमं यथान्यायं प्रवर्तिनाम् ।
प्रभेव वर्णभेदानां साधनी सर्वकर्मणाम् ॥२८॥

प्रवृत्तीति । न्यायं मर्यादामनतिक्रम्य प्रवर्तिनां मनोवाक्कायैः व्यवहरणशीलानाम् । वर्णभेदानां शुक्लनीलपीतादिवर्णभेदानां प्रभैव साधनी तद्वत् ।

'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ' (१६।२४)

इति भगवद्गीतेः ॥२८॥

मनसा साध्यते यच्च यथान्यायं न कर्मणा ।
तदुन्मत्तक्रियाकल्पं चेष्टनं नार्थसाधनम् ॥२६॥

मनसेति । उभाभ्यामेव साधनीयमित्यर्थः ॥२६॥

परं पौरुषमाश्रित्य दन्तैर्दन्तान् विचूर्णयन् ।
शुभेनाशुभमुद्युक्तं प्राक्तनं पौरुषं जयेत् ॥३०॥

परमिति । एतत्फलितमाह—परं पौरुषमिति ॥३०॥

प्राक्तनः पुरुषार्थो मां नियुङ्क्त इति चेतना ।
बलादधस्तात् कर्तव्या प्रत्यक्षात् प्रबला न सा ॥३१॥

प्राक्तनेति । प्राक्तनः पुरुषार्थः प्रारब्धकर्मफलम् ॥३१॥

प्रत्यक्षमानमुत्सृज्य योऽनुमानेषु तिष्ठते ।
इमौ सर्पाविति प्रेक्ष्य स स्वदोर्भ्यां पलायते ॥३२॥

प्रत्यक्षेति । तिष्ठते इति—'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' (पा० सू० १।३।२३) इत्यात्मनेपदम् ॥३२॥

दोषः शाम्यत्यसंदेहं प्राक्तनोऽद्यतनैर्गुणैः ।
विधीयमानैर्भैषज्यैरुल्लाघोऽत्र निदर्शनम् ॥३३॥

दोषेति । उल्लाघो नीरोगः । उल्लाघो निपुणे हृष्टे शुचिनीरोगयोरपि—इति हैमः ॥३३॥

न यातव्यमनुद्योगैः साम्यं पुरुषगर्दभैः ।
उद्योगो हि यथाशास्त्रं लोकद्वितयसिद्धये ॥३४॥

न यातव्यमिति । पुरुषा एव गर्दभास्तैः । लोकद्वितीयम् एष लोकः परलोकश्च ॥३४॥

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत देहं नश्वरमात्मनः ।
संत्यजेत् पशुकर्माणि साधुवर्त्मानि संश्रयेत् ॥३५॥

प्रत्यहमिति । पशुः पामरः ॥३५॥

किंचित्कान्तान्नपानादि कलितं कोमलं गृहे ।
व्रणे कीट इवास्वाद्य वयः कुर्यान्न भस्मसात् ॥३६॥

किंचिदिति । ऐहिकसुखपरतन्त्रो वयोयापनं न विदध्यादित्यर्थः ॥३६॥

उद्यत्सच्छास्त्रसत्सङ्गसदाचारसुधोर्जितः ।
एष पौरुषसंतानो दत्ते फलमभीप्सितम् ॥३७॥

उद्यदिति । पौरुषमेव संतानः पौरुषस्य संतानो वा । संतानः संततौ गोत्रे स्यादपत्ये सुरद्रुमे—इति मेदिनी ॥३७॥

आलस्यं यदि न भवेज्जगत्यनर्थः
को न स्याद् बहुविभवो बहुश्रुतो वा ।
एतस्मादवनिरियं ससागरान्ता
संकीर्णा नरपशुभिश्च निर्धनैश्च ॥३८॥

॥ इति पौरुषस्थापनम् ॥

आलस्येति । नरपशवो निर्मर्यादाः । आलस्यम् एव आत्मोन्नतिविघटनस्य परं निदानमित्यर्थः ॥३८॥

इहैव वासिष्ठे महारामायणे प्रथमो दिवसो व्यरंसीत् । तथाच पठ्यते—

"इत्युक्तवत्यथ मुनौ दिवसो जगाम
सायंतनाय विधयेऽस्तमिनो जगाम ।
स्नातुं सभाकृतनमस्करणा जगाम
श्यामाक्षये रविकरेण सहाजगाम ॥"

इति । एतेन सांप्रतं व्याख्यानताण्डवाडम्बरैः संध्योपासनादि कर्म लोपयन्तः सभाव्यसनिनो रागान्धाः पर्यालोच्या इति ॥ वचनव्यत्यय आर्षः ॥

॥ इति पौरुषस्थापनम् ॥

(४)

यथा प्रयत्नैर्भूयेत तथैध्येत फलैरपि ।
इति पौरुषमेवेष्टे किं दैवं नाम दृप्यति ॥३९॥

यथेति । भूयेत भवितव्यम् । भावे लिङ् । एवम् एध्येत एधितव्यम् । दृप्यति । दृपहर्षमोहनयोः । मोहनं गर्वः ॥३९॥

शक्तस्य पौरुषं व्यक्तमव्यक्तं वापि यद् भवेत् ।
तद् दैवमित्यशक्तेन बुद्धमात्मन्यबुद्धिना ॥४०॥

शक्तेति । पौरुषमेव दैवमिति फलितम् ॥४०॥

पौरुषेण कृतं कर्म यद्यकस्माद् विपद्यते ।
तत्र व्यापादकाकोपो न दैवमिति घुष्यताम् ॥४१॥

पौरुषेति । व्यापादकस्य अनुष्ठातुः, आकोपः मौढ्यम् ॥४१॥

द्वौ हुडाविव युध्येते पुरुषार्थौ परस्परम् ।
जीयते दुर्बलस्तत्र वृथा दैवकदर्थना ॥४२॥

द्वाविति । हुडो मेषः– इति शब्दार्थचिन्तामणिः ॥४२॥

भिक्षुको मङ्गलेभेन नृपतां यदि नीयते ।
प्राक्तनं पौरुषं तत्र बलवद्वापि कारणम् ॥४३॥

भिक्षुकेति । अन्यपौरुषेण अन्यस्य फलभोगे पक्षान्तरम् । मङ्गलेभो मङ्गलगजः ॥४३॥

यन्न शक्नोमि तस्यार्थे यदि दुःखं करोम्यहम् ।
तदमारितमृत्योर्मे युक्तं प्रत्यहरोदनम् ॥४४॥

यन्नेति । सर्वथा ह्यशक्ये प्रवृत्तिः—अहो मे मृत्युर्भविष्यतीतिवद्रुदितचेष्टैव ॥४४॥

ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं नरकमेव वा ।
य एवं मन्यते मन्दो नाथवान् पशुरेव सः ॥४५॥

ईश्वरेति । नाथः नासारज्जुः—इति शब्दार्थचिन्तामणिः। नहीश्वरेण मित्रामित्रवत् किंचित् संपाद्यते । तथाच स्मर्यते गीतासु—

'नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥' (५।१५)

इति ॥४५॥

कश्चिन्मां प्रेरयत्येवमित्यनर्थकुकल्पने ।
यः प्राप्तो दृष्टमुल्लंघ्य स हेयो दूरतोऽधमः ॥४६॥

कश्चिदिति । कश्चिद् अन्तर्यामी । माम् । प्रेरयति प्रयोजयति । इति व्यामोहमात्रम् । स हि कमर्थमभिसंधाय प्रेरयेद् इति तात्पर्यम् ॥४६॥

स्वार्थप्रापककार्यैकप्रयत्नपरता बुधैः ।
प्रोक्ता पौरुषशब्देन सा सिध्येच्छास्त्रसंस्कृता ॥४७॥

स्वार्थेति । शास्त्रसंस्कृता शास्त्रानुमोदिता नतूत्पथं नीता ॥४७॥

प्राक्तनं पौरुषं वीर ! दैवनाम्नावगीयते ।
तत्रालम्बितकर्तव्यः खञ्जः श्राणः कुणिर्न किम् ॥४८॥

प्राक्तनेति । वीरेति रामभद्रस्य साभिप्राया संबुद्धिः । अतएवान्यत्राप्युक्तम्–

'उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी–
दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः ॥'

इति । अत्र यत्ने को दोषः–इति विचारणीयम् । सर्वथोद्योगवता भवितव्यमित्यर्थः ॥४८॥

सकलकारणकार्यविवर्जितां
निजविकल्पबलादुपकल्पिताम् ।
वितथदैवकथामवहेलयन्
सततमाश्रय पौरुषमात्मनः ॥४९॥

॥ इति दैवनिराकरणम् ॥

सकलेति । निजविकल्पबलादुपकल्पिताम्–आत्मनो विकल्पकोटेः समुत्थापिताम् ॥४९॥

॥ इति दैवनिराकरणम् ॥

(५)

ये सदुद्योगमुत्सृज्य मूढा दैवाङ्कशायिनः ।
ते धर्ममर्थं कामं च हापयन्त्यात्मविद्विषः ॥५०॥

ये सदिति । आत्मविद्विषः । तथा च श्रीभगवद्गीतासु—

'उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥' (६।५)

इति ॥५०॥

संवित्स्पन्दो मनःस्पन्द इन्द्रियस्पन्द एव च ।
एतानि पुरुषार्थस्य रूपाण्येभ्यः फलोदयः ॥५१॥

संविदिति । मनसा बुद्ध्या कर्मणा च एकहेलया प्रवृत्तौ फलावश्यंभाव इति भावः ॥५१॥

यथासंवेदनं कर्म यथाकर्म फलान्यपि ।
एवं शुभाशुभे दृष्टे न दृष्टे ते व्यवस्थिते ॥५२॥

यथेति । संवेदनं ज्ञानम् ॥५२॥

अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्वेवावतारयेत् ।
चित्तं बालकवद् यत्नादिति शास्त्रार्थसंग्रहः ॥५३॥

अशुभेति । शास्त्रार्थसंग्रहः शास्त्रार्थसंक्षेपः । तत्त्वमिति यावत् ॥५३॥

सच्छास्त्रतः सद्गुरुतः स्वतश्चेति त्रिसिद्धयः ।
पुरुषार्थस्य सर्वत्र न दैवस्य कदाचन ॥५४॥

॥ इति पौरुषप्राधान्यसमर्थनम् ॥

(६)

न चाकृतिर्न च स्पन्दो न च सत्तावभासवत् ।
तन्मिथ्याज्ञानवद्रूढं किं दैवं नाम जल्प्यते ॥५५॥

न चाकृतीति । आकृतिः आकारः । 'आकृतिर्जातिलिङ्गाख्या' (न्या० द० २।२।७०) इति गौतमः । स्पन्दनं स्पन्दः क्रिया । सत्ता सामान्यम् । तदवभासवत् तत्प्रतीतिवत् । रूढं प्रसिद्धम् ॥५५॥

स्वकर्मफलसंसिद्धौ दैवमस्तीति निश्चयः ।
भ्रान्तो दुरवबोधेन रज्जाविव भुजङ्गमः ॥५६॥

स्वकर्मेति । स्वकर्मफलसंसिद्धौ दैवनिर्णये रज्ज्वां दुर्ज्ञानगृहीतः सर्पो दृष्टान्तः ॥५६॥

दैवमेवेह चेत् कर्तृ पुंसः किमिव चेष्टया ।
स्नानभोजनवार्तादि सर्वं तेन विधास्यते ॥५७॥

दैवमिति । एकान्ततो दैवकर्तृत्वनिश्चये तूष्णीकेन भवितव्यम् । किं चेष्टान्तरेणेति तात्पर्यम् ॥५७॥

न च निष्पन्दता लोके शवतामन्तरेक्षिता ।
स्पन्दादेव फलोन्मेषस्तस्माद् दैवं निरर्थकम् ॥५८॥

न च निष्पन्दतेति । शवतायामेव स्पन्दाभावः संघटते– इति जीवता सव्यापारेणैव वर्तितव्यम् ॥५८॥

पृथक् चेद् बुद्धिरन्योऽर्थः सैव चेत् काऽन्यता तयोः ।
कल्पनायां प्रमाणं चेत् पौरुषं किं न कल्प्यते ॥५९॥

पृथगिति । इष्टापत्तौ बोध-बोधकयोर्विरुद्धकोटिमुद्भाव्य गत्यन्तराभावात् पौरुषमेव साधितं भवति ॥५९॥

तेनामूर्तस्य न श्लेषो नभसेव वपुष्मतः ।
मूर्तं च दृश्यते श्लिष्टं तद् दैवं नोपपद्यते ॥६०॥

॥ इति दैवनिराकरणसमर्थनम् ॥

तेनामूर्तेति । अमूर्तस्य तत एव व्यवहारदशायां कल्पितस्य जात्याकृति-व्यक्त्याख्यपदार्थातिक्रान्तस्य चिद्वस्तुनः सङ्गराहित्यात् प्रतिपादितं साधु संघटत इति तात्पर्यम् ॥६०॥

॥ इति दैवनिराकरणसमर्थनम् ॥

भगवन् ! यल्लोकेषु प्रतिष्ठितं तद् दैवं नाम किमिति राघवेण पृष्टो वसिष्ठो व्याख्यत—अङ्ग ! अवन्ध्येन पौरुषेण संपादिता शुभाशुभार्थ-संपत्तिः इष्टानिष्टवस्तूपपत्तिर्वा, अनुष्ठितस्य कर्मणः फलप्राप्ताविदमित्थं स्थितमित्युक्तिः एवं मम मतिर्निश्चयश्चेत्युक्तिः इदमस्य बोधकमित्यनाश्वा-सनवाचोयुक्तिर्वा दैवमित्याहुः। भगवन् ! यत्खलु पूर्वकर्मोपार्जितं जगति दैवं दैवमिति व्यपदिश्यते तदेकान्ततो भवता किमपमृश्यत इति तेन पृष्टः स पुनराख्यत—अङ्ग ! साधूच्यते—॥६१॥

भगवन्निति । प्राणिनस्तेषामावासा इति द्विविधो लोकपदार्थो द्रष्टव्यः । तत्र—

"अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥" गीता.

इत्यादौ परसाचिव्येन दत्तहस्तावलम्बं दैवाख्यं वस्तुव्यक्तमेव ॥६१॥

या मनोवासना पूर्वं जजागार निरर्गला ।
सैवेयं कर्मभावेन लोके परिणतिं गता ॥६२॥

यद्वासनो हि पुरुषस्तत्कर्तैष प्रजायते ।
नान्यभावोऽन्यकर्मा स्याद् दैवं कर्म पुराकृतम् ॥६३॥

इत्थं कर्मस्थकर्माणि कर्म प्रौढा स्ववासना ।
वासना मनसो नान्या मनो हि पुरुषः स्मृतः ॥६४॥

मनश्चित्तं वासना च कर्म दैवं च निश्चयः ।
राम ! दुर्निश्चयस्यैताः संज्ञाः सद्भिरुदाहृताः ॥६५॥

एवं पुरुषकारेण नेतरेण कदाचन ।
सर्वमासाद्यते वीर ! तस्मात्तत्र प्रयत्यताम् ॥६६॥

या मनोवासनेत्यादि । वस्तुतो निष्कृष्य दैवाख्यं वस्तु निर्वक्तुमशक्यमपि तदधिकारमुपोद्वलयितुं—'अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि' इति न्यायेन– या मनोवासनेत्यादिश्लोकपञ्चकेन दैवमुज्जीवयन् रामभद्रमाश्वासयति ॥६२–६६ ॥

भगवन् ! अयं प्राक्तनो वासनाप्रसरो यथा मां प्रयोजयति तथैव कृपणस्तिष्ठन् किं विदधामीति राघवेणोक्तो वसिष्ठ आख्यत— सौम्य ! शुभाशुभेति द्विविधा खलु वासना । तत्र शुभया चेदिदानीं नीयसे तदा शुभेनैव शाश्वतं पदं गन्तासि, चेदशुभया तदैषा प्रसह्य विजेतव्यैव— ॥६७॥

भगवन्निति । कृपणः कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव इति भावः । शुभाशुभेत्यादि स्पष्टं प्राक् प्रपञ्चितमपि ॥६७॥

प्राज्ञश्चेतनमात्रस्त्वं न शरीरं जडात्मकम् ।
अन्येन चेतसा तत्ते चेत्यत्वं क्वेव वर्तते ॥६८॥
अन्यस्त्वां चेतयति चेत्तं चेतयति कोऽपरः ।
इमं कश्चेतयेदित्थमनवस्था न शाम्यति ॥६९॥

प्राज्ञ इति, अन्य इति च । 'यो मनसि तिष्ठन् मनसोऽन्तरो यं मनो न वेद' (बृह० उप०) इति श्रुत्या मनसः प्रेरकः प्राज्ञात्मा अन्यः, तदधीने मनोवासनोद्भवे कथं मम स्वातन्त्र्यम् इत्याशङ्क्य समाधत्ते । अनवस्थाख्यो दोषो न शाम्यति अपितूदेत्येव ॥६८–६९॥

शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासनासरित् ।
योजनीया शुभे मार्गे प्रयत्नैः पौरुषाश्रितैः ॥७०॥

शुभाशुभेति । तथा च योगभाष्ये— 'चित्तनदी हि द्वेधा प्रवहति०' इत्यादि ॥७०॥

अव्युत्पन्नमना यावदनभिज्ञाततत्पदः ।
गुरुशास्त्रप्रमाणैश्च निर्णीतं तावदाचर ॥७१॥

अव्युत्पन्नेति । वासनया संसारः संसारेण वासनेत्यन्योन्याश्रयत्वात् प्रमातृवर्गस्य संसारान्तःपातित्वाद् यावत्प्रमेयाणां स्वरूपवशेन संकीर्णत्वाच्च । तत एव—'श्रुतिर्विभिन्ना स्मृतयो विभिन्ना—' इत्येवंजातीयज्ञापकत्वाच्च सत्यप्येकत्राविकल्पसमये यावत् पारमार्थिक उन्मेषो न स्यात् तावद् गुरुशासनैकपरायणतैव ज्यायसीति उपदिशति । अव्युत्पन्नं परमार्थाकलने अपरिचितं मनो यस्य तथाभूत इत्यर्थः ॥७१॥

ततः पक्वकषायेण त्वयाभिज्ञातवस्तुना ।
शुभोऽप्ययं त्वासनौघस्त्याज्यो निर्वहिताधिना ॥७२॥

॥ इति कर्मविचारः ॥

तत इति । कषायगुणयोगात् कषायः संसारसरणहेतुर्वासनैव । वस्तुतस्तु बन्धहेतुत्वाद् अशुभवासनेव शुभवासनादि त्याज्या भवतीति तत्त्वम् ॥७२॥

॥ इति कर्मविचारः ॥

संप्रति तज्ज्ञानमवतारयति यत्र खलु सर्वं ज्ञेयं परिसमाप्यते—

यथास्थितब्रह्मतत्त्वसत्ता नियतिरुच्यते ।
सा विनेतुर्विनेतृत्वं विनेयस्य विनेयता ॥७३॥

यथास्थितेति । नियतिः- ब्रह्मतत्त्वं यथास्थितं सच्चिदानन्दस्वप्रकाशात्मना सर्वत्र समतया सर्वानुकूल्येन स्थितं तत्संबन्धिनीं सर्वपदार्थानां सत्तैव भविष्यत्कालसंबन्धेन व्यपदिश्यमाना भवितव्यताख्या नियतिरित्याहुः ॥७३॥

प्ररोचनार्थं चतुर्भिर्ज्ञानशैलीमेव प्रपञ्चयति—

तदेकाग्रमना राम ! पौरुषोल्लासलालितः ।
संसारमरुसंत्रस्तचित्ताध्वन्यसुधावधिम् ॥७४॥
जन्ममृत्युरुजाक्लेशप्रत्यादेशमहौषधिम् ।
जीवन्मुक्तिमहानन्दनिस्तरङ्गपयोनिधिम् ॥७५॥

तपो दानं तथा तीर्थमनुपाया भवच्छिदे ।
इत्येव करुणादृष्ट्या कलितां परमेष्ठिना ॥७६॥
सुखाववोधसंदृब्धकथासारविकस्वराम् ।
इमां विभावय ब्राह्मीं ज्ञानशैलीं मनोहराम् ॥७७॥ (चक्कलकम्)

तदेकाग्रेत्यादि । परमेष्ठिना परमगुरुणा ॥७४–७७॥

नित्यं हि साधुसंपर्काद् विवेकोऽयं विकाशते ।
विवेकपादपस्येमौ भोगमोक्षौ फले स्मृतौ ॥७८॥

नित्यमिति । स्पष्टम् । विवेक एव पादपः तस्य फले इव भोगमोक्षौ ॥७८॥

मोक्षद्वारे द्वारपालाश्चत्वारो दर्शिता इमे ।
शमो विचारः संतोषश्चतुर्थः साधुसङ्गमः ॥७९॥

मोक्षद्वारेति । प्रतिपत्तिसौकर्यार्थं मोक्षाख्यद्वारे चतुरो द्वारपालान् व्यपदिशति ॥७९॥

एते सेव्याः प्रयत्नेन चत्वारोऽपि सुमेधसा ।
त्रयो द्वौ वा तथैकोऽपि सेवितो निर्वृतिं दिशेत् ॥८०॥

॥ इति ज्ञानावतरणिका ॥

एत इति । एतेषु परस्परानुप्रविष्टरहस्यार्थेषु चतुर्षु एकोऽपि यथायोगं निषेवितो परार्थसंग्राहकः परिणमतीत्याशयः ॥८०॥

॥ इति ज्ञानावतरणिका ॥

अथ प्रपञ्चितायां ज्ञानशैल्यां प्रथमं शमाख्यं द्वारपालं पञ्चदशभिर्निरूपयति–

एतां दृष्टिमवष्टभ्य दृष्टात्मानः सुबुद्धयः ।
उदिता इव संसारे विचरन्ति गतव्यथाः ॥८१॥

एतामिति । एतां जागर्तीं सृष्टिदृष्टिम् । अवष्टभ्य विलाप्य । दृष्टात्मानः प्रत्यक्षीकृतात्मस्वरूपाः । अतएव सुबुद्धयः । संसारे संसरणशीलेऽपि । गतव्यथाः

संन्तः उदिता इव आत्मसाम्राज्यलीना इव विचरन्ति व्यवहरन्ति ॥८१॥

आत्मसाम्राज्यविलीनत्वमेव द्वाभ्यां प्रपञ्चयति—

न शोचन्ति न वाञ्छन्ति न याचन्ति शुभाशुभम् ।
सर्वमेवात्र कुर्वन्ति न कुर्वन्ति मनागपि ॥८२॥
स्वच्छं दीव्यन्ति तिष्ठन्ति विरमन्ति निराधयः ।
हेयोपादेयसंबाधवर्जिताः स्वात्मनि स्थिताः ॥८३॥

न शोचन्तीत्यादि । हेयोपादेयसंबाधवर्जिता— अग्राह्यग्राह्यविचिकित्साभ्यां यः संबाधः मुग्धभावः तेन वर्जिताः अपराभूताः । विदितवेदितव्या इत्यर्थः ॥८२ ८३॥

निरापायं निरातङ्कं निर्भ्रमं स्वास्थ्यवैभवम् ।
न विना केवलीभावाद् भासते भुवनत्रये ॥८४॥

निरपायमिति । केवलीभावः कैवल्यम् । आत्मस्वरूपेणावस्थानमित्यर्थः ॥८४॥

प्राप्तमेतत्पदं तात ! न बाह्यं साधनं मतम् ।
केवलं पौरुषारब्धं श्रवणाद्येव संततम् ॥८५॥

प्राप्तमिति । श्रवणादि श्रवणं मननं निदिध्यासनं च ॥८५॥

तत्समस्तसुखासारसीमान्तमिति शस्यते ।
तदेवामन्दनिष्पन्दं रसायनमपीष्यते ॥८६॥

तत्समस्तेति । अत्र–'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति सा काष्ठा सा परागतिः' इत्यादि श्रुतयो जाग्रत्येव ॥८६॥

गच्छता तिष्ठता वापि भ्रमता पततापि वा ।
असुरेण सुरेणापि मानुषेणेतरेण वा ॥८७॥
मनः प्रशमनोद्भूतं तदवाप्य महत्सुखम् ।
पचेलिमं फलं विद्यात् सद्विवेकफलेग्रहे ॥८८॥ युग्मकम्)

गच्छतेत्यादि । गच्छतेत्यादिना देशकालपात्रनिबन्धनो वैषम्याभावो दर्शितः । इहापि परमार्थे वस्तुनि सुरासुरसंघर्षानवकाशेन कक्षाविभागः सुदूरमुदस्तः ॥८७–८८॥

हृत्कुशेशयकोशेषु येषां शमकुशेशयम् ।
ते पद्मापतिवद् वन्द्या द्विहृत्पद्मा मनीषिणः ॥८९॥

हृत्कुशेशयेति । एवं योगमास्थिता सुरा वा असुरा वा इतरे वा निर्विशेषं प्रशस्यन्ते । अहो ! येषां हृदयमेवारविन्दं तत्र विश्रान्तो शम एवारविन्दम्– ते रागद्वेषबहिर्भूता एकरसा महात्मानो वैलक्षण्येन द्विहृत्पद्मा इव लक्ष्यमाणा पद्मापतिपद्मनाभसमुद्भूतपद्मासनवत् कथमिव न स्पृहणीया इत्यर्थः ॥८९॥

सौहार्दहृद्ये सर्वत्र शमपीयूषवर्षिणि ।
सुजने परमं तत्त्वं स्वयमेव प्रसीदति ॥९०॥

सौहार्देति । इत्यनेन परतत्त्वस्य विश्रान्तिस्थानं दर्शितम् ॥९०॥
एतदेव शमपुरस्कारेण प्रपञ्चयति—

शमामृतरसाच्छन्नं मनो यामेति निर्वृतिम् ।
छिन्नान्यपि तयाङ्गानि मन्ये रोहन्ति राघव ! ॥९१॥
यः समः सर्वभूतेषु भावि काङ्क्षति नोज्झति ।
जित्वेन्द्रियाणि यत्नेन स शान्त इति कथ्यते ॥९२॥
बुद्ध्यापि शुद्धया बुद्ध्या यथैवान्तस्तथा बहिः ।
विमलं वर्तमानो यः स शान्त इति मन्महे ॥९३॥
शमसंपन्नवृत्तीनां सर्वत्र समदर्शिनाम् ।
उदेति निर्वृतिश्चित्ताज्ज्योत्स्नेव हिमदीधितेः ॥९४॥
शमममृतमहार्यमार्यगुप्तं
दृढमवलम्ब्य परं पदं प्रयाताः ।

विनयपर ! यथा महानुभावा-
स्त्वमपि तथा खलु सिद्धये प्रयाहि ॥६५॥

॥ इति प्रमथो द्वारपालः शमः ॥

शमामृतेत्यादि । स्पष्टम् ॥६१-६५॥

यद्यपि शमादिषु चतुर्षु एकेनान्य आक्षिप्यत इत्युक्तप्रायम् । तथापि सति शमे निर्बाधो विचार उदेतीति प्रक्रियामाश्रयन् दशभिर्विचाराख्यं द्वितीयं द्वारपालं प्रपञ्चयति—

शास्त्रावबोधभासिन्या धिया परमशुद्धया ।
कर्तव्यः कारणज्ञेन विचारोऽनिशमात्मनः ॥६६॥

शास्त्रावबोधेति । स्पष्टम् ॥६६॥

विचाराद् वदते शास्त्रे नयते तत्त्वमञ्जसा ।
आसयत्यन्तरे तच्च क्रमतेऽत्र निरन्तरम् ॥६७॥

विचारादिति । वदते इत्यत्र-'भासनोपसंभाषा-' (पा० सू० १।३।४७) इत्यनेन, नयते इत्यत्र-'संमाननोत्सञ्जनाचार्य-' (पा० सू० १।३।३६) इत्यनेन, क्रमते इत्यत्र-'वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः' (पा० सू० १।३।३८) इत्यनेन चात्मनेपदानि विशेषप्रतिपत्तये द्रष्टव्यानि ॥६७॥

शक्तिर्धृतिः स्मृतिर्ज्ञप्तिः प्रतिपत्तिः क्रिया फलम् ।
फलन्त्येतानि सर्वाणि विचारेणैव धीमताम् ॥६८॥

शक्तिरिति । शक्तिः सामर्थ्यम् । धृतिः धैर्यम् । स्मृतिः स्मरणम् । ज्ञप्तिः ज्ञानम् । प्रतिपत्तिः स्फूर्तिः । क्रिया अनुष्ठानम् । फलं निष्पत्तिः । फलन्ति निष्पद्यन्ते ॥६८॥

जडाजडपरिज्ञानं नेयार्थपरिवर्तनम् ।
विचारप्लवमाश्रित्य तरेत् संसारसागरम् ॥६९॥

जडाजडेति । नेयार्थः प्रतिषिद्धार्थः । विचार एव तारकत्वात् प्लवः ॥६९॥

या विचारविकासिन्यो मतयो गतयो विदाम् ।
अप्सु तुम्ब्य इवापत्सु न ता मज्जन्ति वाहिताः ॥१००॥

या विचारेति । गतयः अवगमाः । वाहिताः आश्रिताः ॥१००॥

मूढमानसरूढानामवाप्य पटुरोधिनाम् ।
अविचारकरञ्जानां मञ्जर्यो वेधसूचिकाः ॥१०१॥

मूढमानसेति । अविचार एव समन्ताद् व्यथकत्वेन करञ्जाः । मञ्जर्यो वल्लर्यः । वेधसूचिकाः वेधनसूच्यः ॥१०१॥

कज्जलक्षोदमलिना मदिरामदधर्मिणी ।
अविचारमयी निद्रा सुप्ता स्वप्नं न सर्पति ॥१०२॥

कज्जलेति । स्पष्टम् ॥१०२॥

रामैष केवलीभावः सुविचारकृषेः फलम् ।
यत्र निष्कामतोदेति शीतांशाविव शीतता ॥१०३॥

रामेति । निष्कामता वासनाराहित्यम् ॥१०३॥

उपेक्षते गतं वस्तु संप्राप्तमनुवर्तते ।
न क्षुब्धो वा न चाक्षुब्धः प्राज्ञः पूर्ण इवार्णवः ॥१०४॥

उपेक्षत इति । एवंलक्षणकः स्थितप्रज्ञो भवतीति भावः ॥१०४॥

कोऽहं कथमयं दोषः संसार इति संततम् ।
यथाशास्त्रं परामर्शो विचार इति कीर्त्यते ॥१०५॥

॥ इति द्वितीयो द्वारपालो विचारः ॥

कोऽहमिति । प्रकृतोपयुक्तं विचारलक्षणमेतत् ॥१०५॥

॥ इति द्वितीयो द्वारपालो विचारः ॥

अथ संतोषाख्यं तृतीयं द्वारपालं पञ्चभिः प्रपञ्चयति—

संतोषैश्वर्यसुखिनां चिरविश्रान्तचेतसाम् ।
साम्राज्यमपि शान्तानां प्रतिभाति तृणोपमम् ॥१०६॥

संतोषेति । शान्तानाम् अचलप्रतिष्ठानाम् ॥१०६॥

संतोषमुदिता प्रज्ञा राम ! संसारवृत्तिषु ।
विषमास्वप्यनुद्विग्ना न कदाचन हीयते ॥१०७॥

संतोषमुदितेति । संतोषेण मुदिता प्रसन्ना । संसारवृत्तिषु सांसारिकीषु व्यवहृतिषु । विषमासु असमञ्जसासु । अनुद्विग्ना निर्बाधा । न कदाचन हीयते अपितु यथासंभवं चीयत एव ॥१०७॥

आत्मनात्मनि संतोषं यावन्नाप्नोति मानसम् ।
उद्भवन्त्यापदस्तावल्लता इव मनोबिलात् ॥१०८॥

आत्मनेति । मन एव विषमत्वाद् बिलम् गर्तः । उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेदिति भावः ॥१०८॥

आशाविलासविवशे चित्ते संतोषवर्जिते ।
म्लानादर्शे वक्त्रमिव ज्ञानं न प्रतिबिम्बति ॥१०९॥

आशाविलासेति । निर्मले हि चन्द्रादि प्रतिफलति । व्यत्यासे तु प्रतिफलितमपि दोषाक्रान्तमिव प्रतीयत इति स्पष्टम् ॥१०९॥

नालब्धमेष्यते येन न लब्धं चाभिनन्द्यते ।
स पूर्णेन्दुरिवाऽऽपूर्णः संतुष्ट इति गण्यते ॥११०॥

॥ इति तृतीयो द्वारपालः संतोषः ॥

नालब्धमिति । संतोषस्य स्वरूपप्रतिष्ठानमेतत् ॥११०॥

॥ इति तृतीयो द्वारपालः संतोषः ॥

इदानीमन्तिमं साधुसङ्गमाख्यं मोक्षद्वारपालं सप्तभिः प्रपञ्चयति—

शून्यमाकीर्णतां धत्ते मृत्युरप्युत्सवायते ।
विपत्संपदिवाभाति राम ! साधुसमागमे ॥१११॥

शून्यमिति । साधवः सन्त इति जगति सुप्रसिद्धमेवाबालाङ्गनम् । तत्र विशिष्टवाच्यार्थस्तु प्रतिश्लोकं व्युत्पादित एव । य इदानीमपि शब्दगुणेनापि आस्तिकपुंगवान् आश्वासयति । व्युत्पादनविधा तु–'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये' (भ. गी. ७–३) इत्यादिन्यायेन दुर्लभतरतमैव । अत्र सामान्यसाधुपदार्थनिर्वचनं भवभूतीयमपि न विस्मर्तव्यम् । तथाहि—

"प्रियप्राया वृत्तिर्विनयमधुरो वाचि नियमः
प्रकृत्या कल्याणी मतिरनवगीतः परिचयः ।
पुरो वा पश्चाद् वा तदिदमविपर्यासितरसं
रहस्यं साधूनामनुपधि विशुद्धं विजयते ॥"

इति । एतेषां परीक्षणं तु—

'शमदम्भः शुचिदम्भः स्नातकदम्भः समाधिदम्भश्च ।
निःस्पृहदम्भस्य तुलां यान्ति न चैते शतांशेन ॥'

इत्येवमादिक्षेमेन्द्रसूक्तितोऽपि सुव्यक्तम् । 'शून्यमाकीर्णतां धत्ते–' यथा-सुरथ-समाध्योः सुमेधसः संगमे । '–मृत्युरप्युत्सवायते' यथा भगवतः श्रीदधीचस्य । 'विपत्संपदिवाभाति–' यथा–कुन्ती–वासुदेवयोः ॥१११॥

मतेर्विकासनं सम्यङ् निष्कासनमहंमतेः ।
आधेरपासनं सौम्य ! साधुसङ्गमसौभगम् ॥११२॥

मतेरिति । मतेः–मुकुलिताया इत्यर्थः । अहंमते अविद्यायाः । सा च पिशाचीव पुमांसमात्मसात् करोति । आधेः मानसव्यथायाः । अपासनं सुदूरनिष्कासनम् ॥११२॥

नीरागाश्छिन्नसंदेहा गलितग्रन्थयोऽनघ ! ।
साधवो यदि विद्यन्ते किं तपस्तीर्थसंग्रहैः ॥११३॥

नीरागा इति । वस्तुतो जन्मजन्मान्तरार्जिततपस्तीर्थसंग्रहाणामेव पारमार्थिकं फलं तादृक् चित्तवृत्तिसमुदय इति ॥११३॥

त एते नरकाग्नीनां संशुष्केन्धनतां गताः ।
यैर्दृष्टा हेलया सन्तः क्लेशसंतापतोयदाः ॥११४॥

त एत इति । 'हरत्यघं संप्रति हेतुरेष्यतः—' इत्यादिमाघोक्तया व्याख्यातप्रायमेतत् ॥११४॥

संतोषः परमो लाभः सत्सङ्गः परमा गतिः ।
विचारः परमं ज्ञानं शमो हि परमं सुखम् ॥११५॥

संतोष इति । एकैकस्य मोक्षद्वारपालस्य निष्कृष्टार्थदर्शनम् ॥११५॥

एकैकोऽपि किलैतेषां परेषां प्रसवास्पदम् ।
तस्मात् संसिद्धये धीमान् यत्नेनैकं समाश्रयेत् ॥११६॥

एकैकेति । इदानीमुक्तेषु चतुर्षु एकैकस्याप्यनुष्ठानं परानुष्ठानफलकमिति संक्षेपेण विनेयान् प्रति उपदिशति ॥११६॥

विचारशमसंतोषसाधुसङ्गमशालिनि ।
नरे श्रियो विराजन्ते कल्पवृक्षाश्रये यथा ॥११७॥

॥ इति चतुर्थो द्वारपालः सत्सङ्गः ॥

विचारेति । एवंविशेषणविशिष्टे पुंसि कल्पद्रुमे श्रिय इव यथाकल्पनमुद्भवन्ति ताः सर्वाः संपद इति यौगिकार्थेनापि स्फुटम् ॥११७॥

॥ इति चतुर्थो द्वारपालः सत्सङ्गः ॥

इदानीं वक्ष्यमाणस्यार्थस्य सुखावबोधाय दृष्टान्तमुत्थापयति—

आर्षं वा पौरुषं वापि ज्ञानमज्ञाननाशनम् ।
सौरमाग्नेयमथवा तेजस्तिमिरभञ्जनम् ॥११८॥

आर्षं वेति । ऋषिर्वेदस्तत आगतमार्षम् । 'संबुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे' (पा० सू० १।१।१६) इत्यादौ ऋषिशब्दस्य वेदपरता प्रसिद्धैव । तथाचार्षं ज्ञान-

मीशावास्यादिवाक्यघटितं फलितम् । पौरुषं तु रामायणमहाभारतादिघटितम् । 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इत्यध्ययनविधिविशेषसत्तायामपीह फले विशेषाभाव इति भगवतो वशिष्ठस्याशयः । अतएवान्यत्रापि—

'स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा ।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम् ॥'

इत्युपदिष्टम् ॥११८॥

पौरुषे अर्थवादमुत्थापयति—

अपि पौरुषमादेयं शास्त्रं चेद् युक्तिबोधकम् ।
अन्यत्त्वार्षमपि त्याज्यं भाव्यं न्याय्यैकसेविना ॥११९॥

अपि पौरुषमिति । त्याज्यमित्यस्य त्यागे न तात्पर्यमपितु सुखाववोधने शासने । अर्थवादे स्वार्थे तात्पर्याभाव इत्यन्यत्र विस्तरः ॥११९॥

युक्तियुक्तमुपादेयं वचनं बालकादपि ।
अन्यत्तृणमिव त्याज्यमप्युक्तं पद्मजन्मना ॥१२०॥

युक्तियुक्तमिति । उक्तस्यैवोपबृंहणम् ॥१२०॥

योऽस्मत्तातस्य कूपोऽयमिति कौपीः पिबत्यपः ।
मुक्त्वा गाङ्गीः सुधाधारास्तं शिष्यात् कोऽतिरागिणम् ॥१२१॥

योऽस्मदिति । 'तातस्यकूपोऽयमिति ब्रुवाणाः क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति' इत्येवंजातीयकेनाभाणकेन सुप्रसिद्धमेतत् ॥१२१॥

उक्तमर्थं सदृष्टान्तं विनेये भगवति संक्रामयति—

दृष्टान्तेन विना राम ! नापूर्वार्थोऽवबुध्यते ।
प्रदीपमन्तरा नक्तं प्रदर्शनगृहं यथा ॥१२२॥

दृष्टान्तेनेति । अत्र—'लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः' (न्या० द० १।१।२५) इत्यक्षपादीयं सूत्रम् ॥१२२॥

दृष्टान्ते हेयांशं विशदयति—

यैर्यै राघव ! दृष्टान्तैस्त्वं मयात्र प्रबोध्यसे ।
सर्वे सकारणास्ते हि प्राप्यं तु सदकारणम् ॥१२३॥

यैर्यैरिति। सत् परमार्थसत्यम्। अकारणं नित्यम्। अप्रयोजकैरेव मृत्सुवर्णाद्युपादानैर्दृष्टान्तैः सद् ब्रह्म कारणं बोध्यते। तथाच जन्यत्वादयो दृष्टान्तधर्मा दार्ष्टान्तिके ह्युपेक्ष्याः ॥१२३॥

उपमानोपमेयानां कार्यकारणसंगतिः।
वर्जयित्वा परब्रह्म सर्वेषामेव वर्तते ॥१२४॥

उपमानेति। यथा विचारादिभिर्बिम्बग्राहकं ज्ञानमुत्पद्यते इत्युच्यते तथा ज्ञानाद् बिम्बमुत्पद्यते इति न वक्तव्यम्—ब्रह्मण उत्पत्तेर्वक्तुमशक्यत्वात् ॥१२४॥

ब्रह्मोपदेशे दृष्टान्तो यस्तवेह निरूप्यते।
एकदेशसधर्मत्वं तत्रान्तः परिगृह्यते ॥१२५॥

ब्रह्मोपदेशेति। एतदुक्तं भवति—जगद्विवर्त्त ब्रह्माधिष्ठानबोधने भुजङ्गविवर्ताधिष्ठानबोधकरज्जुदृष्टान्तस्याधिष्ठानविवर्तांशमात्रेण दृष्टान्तत्वं न तु दार्ष्टान्तिकनित्यत्वसुखित्वादिसर्वांशेन ॥१२५॥

यो यो नामात्र दृष्टान्तो ब्रह्मतत्त्वावबोधने।
दीयते स स बोद्धव्यः स्वप्नभूतो जगद्गतः ॥१२६॥

यो य इति। स्वप्नजात इव मिथ्याभूतो जगदन्तर्गत एव न वास्तवः ॥१२६॥

एवं सति निराकारे ब्रह्मण्याकारवान् कथम्।
दृष्टान्त इति नोद्यन्ति मूर्खवैकल्पिकोक्तयः ॥१२७॥

एवं सतीति। एवं दार्ष्टान्तिके दृष्टान्तधर्माभावे सति विकल्पोक्तीनामनवकाशः ॥१२७॥

अन्यासिद्धविरुद्धादिदृशां दृष्टान्तदूषणैः।
स्वप्नोपमत्वाज्जगतो न किंचिदपि हीयते ॥१२८॥

अन्यासिद्धेति। अन्येषाम् असिद्धविरुद्धादिदोषदृशां तार्किकाणां दृष्टान्तप्रदूषणैर्दूष्यस्य हेत्वादेर्जगतः स्वप्नोपमत्वाद् वस्तुनि न किंचिद् दूषणं समुदेतीत्यर्थः ॥१२८॥

अत्रस्तु पूर्वापरयोर्वर्तमानेऽपि तादृशम् ।
यथा जाग्रत् तथा स्वप्नः सिद्धमात्रालमागतम् ॥१२९॥

अत्रस्त्विति । पूर्वापरयोः उत्पत्तिविनाशपूर्वोत्तरकालयोः । अवस्तु अभाव-ग्रस्तम् । वर्तमानकालेऽपि ॥१२९॥

स्वप्नसंकल्पनाध्यानवरशापौषधादिभिः ।
यथार्था इह दृष्टान्तास्तद्रूपत्वाज्जगत्स्थितेः ॥१३०॥

स्वप्नेति । जाग्रति कार्याकार्यत्वेन संदिग्धयात्रादौ देवताप्रार्थनादिना शयानस्य स्वप्ने कार्यमिति संकल्पोदये तथा चिन्तने चिन्तनोपलक्षितचिरकाल-पूजामन्त्रजपस्तुत्यादिना तदनुकूलवरलाभे शत्रूणां मुनिशापादिदर्शनेन वा प्रात-र्यात्रादिकरणे शत्रुजयादिदर्शनात् स्वाप्नौषधलाभेन जागरे रोगशान्तिदर्शनाच्च तत्साम्येन सर्वजगत्स्थितेरपि तद्रूपत्वात् स्वप्नदृष्टान्ता यथार्थाः ॥१३०॥

स्वप्नाभत्वं तु जगतः श्रुते शास्त्रेऽवधार्यते ।
न सद्यः पार्यते वक्तुं वाकिल क्रमवर्तिनि ॥१३१॥

स्वप्नाभेति । तथा च स्वप्नवदाभासमानमिदं जगच्चकं शास्त्राद्युपायमन्तरा न केवलया वाचा प्रतिपत्तुं सुशकमितिभावः ।

अकारणे कारणता यद्बोधायोपमीयते ।
न तत्र सर्वसाधर्म्यं संभवत्युपमागुणे ॥१३२॥

अकारणेति । यदि जगति स्वप्नाद्युपमाने सर्वांशेऽपि साधर्म्यं विवक्षितं तर्हि ब्रह्मण्यपि कटकमुकुटाद्युपादानस्वर्णदृष्टान्ते तद्वदेव परिणामिता कुतो न विवद्यते ॥१३२॥

उपमेयस्योपमानादेकांशेन सधर्मता ।
अङ्गीकार्याऽवबोधाय निर्विवादं सुबुद्धिना ॥१३३॥

उपमेयेति । उक्तार्थस्यैव विशदीकरणम् ॥१३३॥

दृष्टान्तस्यांशमात्रेण बोध्यबोधोदये सति ।
उपादेयतया ग्राह्यो महावाक्यार्थनिश्चयः ॥१३४॥

दृष्टान्तेति । अंशमात्रेण उपादेयलेशमात्रेण । उपादेयतया ग्राह्यतया । महावाक्यानि 'तत्त्वमसि' इत्यादीनि ।'

न कुतार्किकतामेत्य नाशनीया प्रबुद्धता ।
अनुभूत्यपलापान्तैरपवित्रैर्विकल्पितैः ॥१३५॥

॥ इति दृष्टान्तनिरूपणम् ॥

न कुतार्किकेति । नैषा तर्केण मतिरपनेया (कठो० उप० ३।६) इत्याद्युपनिषद्वाक्यैः कुतर्केष्वनास्थाप्रतिपादनात् यथारुचि नियमासंभवाच्चेति तात्पर्यम् ।

॥ इति दृष्टान्तनिरूपणम् ॥

विशिष्टांशसधर्मत्वमुपमानेषु गृह्यते ।
को भेदः सर्वसादृश्ये तूपमानोपमेययोः ॥१३६॥

विशिष्टांशेति । विशिष्टो विशेषेण प्रतिपादयितुं विवक्षितो योंशः तेनैव सधर्मत्वं सर्वत्रोपमानेषु गृह्यते । अन्यथा—'गौरिव गवयः' इत्यादौ जात्यादिनापि सादृश्यविवक्षायां भेदाभावादुपमानमात्रोच्छेदः स्यादित्यर्थः ॥१३६॥

दृष्टान्तबुद्धावेकात्मज्ञान-शास्त्रार्थवेदनात् ।
महावाक्यार्थसंसिद्धा शान्तिर्निर्वाणमुच्यते ॥१३७॥

दृष्टान्तेति । तत्त्वंपदार्थशोधनोपयोगि तत्तद्दृष्टान्तबुद्धौ सत्याम् एकमद्वितीयं यज्ज्ञानस्वरूपमात्मतत्त्वं तदेव शास्त्रार्थः तस्य वेदनाद् अवबोधात् ॥१३७॥

शान्तिं श्रेयः परं विद्धि तत्प्राप्तौ यत्नवान् भव ।
भोक्तव्यमशनं प्राप्तं किं तत्सिद्धौ विकल्पनैः ॥१३८॥

शान्तिमिति । विकल्पनैः विकल्पावतरणैः ॥१३८॥

तावद् विचारयेद् यावत् तुर्यविश्रान्तिमाप्नुयात् ।
प्राप्तविश्रान्तिसंपत्तु निर्मन्दर इवाम्बुधिः ॥१३९॥

तावदिति । एतावत्येव विचारस्येयत्तेति ॥१३९॥

एकांशेनोपमानानामुपमेयसधर्मता ।
बोद्धव्यं बोध्यबोधाय न भाव्यं बोधचञ्चुना ॥१४०॥

एकांशेनेति । बोधचञ्चुना लोकेषु आत्मख्यात्यै ज्ञानध्वजिना न भवितव्यमित्यर्थः ॥१४०॥

अनुभूतेर्वेदनस्य प्रतिपत्तेर्यथाभिधम् ।
प्रत्यक्षमिति संज्ञेह कृता जीवः स एव नः ॥१४१॥

अनुभूतेरिति । प्रकाशात्मना भवनम् अनुभूतिः । वेद्यस्य प्रकाशनं वेदनम् । अनुभव-वेद्य-वेत्तृलक्षणस्य त्रितयस्य व्याप्तिः प्रतिपत्तिः । शेषं स्पष्टम् ॥१४१॥

स एव संवित् स पुमानहंताप्रत्ययात्मकः ।
स ययोदेति संविच्च्या सा पदार्थ इति स्मृता ॥१४२॥

स एवेति । साक्षी वृत्त्युपाधौ संवित् । अहंताप्रत्ययात्मा पुमान् प्रमाता स एव यया विषयाकारवृत्त्या वाह्यावरणभङ्गे आविर्भवति सा पदार्थो विषय इति ॥१४२॥

एवं व्यष्टौ उपपाद्य समष्टौ हिरण्यगर्भेऽपि दर्शयति —

स संकल्पविकल्पाद्यैः कृतभूरिक्रमभ्रमैः ।
जगत्तया स्फुरत्यम्बु तरङ्गादितया यथा ॥१४३॥

स संकल्पेति । तरङ्गादितया अम्बुवत् स एव पदार्थः जगत्तया स्फुरतीति तात्पर्यम् ॥१४३॥

प्रागकारणमेवाशु सर्गादौ सर्गलीलया ।
स्फुरित्वा कारणं भूतं प्रत्यक्षं स्वयमात्मनि ॥१४४॥

प्रागकारणमिति । तत्साक्षिप्रत्यक्षं प्राक् सर्गादौ सृष्टेः प्राग् अकारणं कारणान्तरशून्यम् एव सर्गलीलया सृष्टिप्रपञ्चेन स्फुरित्वा प्रादुर्भूय आत्मनि सर्गभावापन्ने । स्वस्मिन्नेवेत्यर्थः । स्वयमेव कारणं भूतं जातमित्यर्थः ॥१४४॥

कारणं त्वविचारोत्थं जीवस्यासदपि स्थितम् ।
सदिवास्यां जगद्रूपं प्रकृतौ व्यक्तिमागतम् ॥१४५॥

कारणमिति। जीवस्य अजन्यत्वाद् असदिव स्थितं कल्पितम्। इवेत्यनास्थायाम्। अतएव अविचारोत्थं कारणं तु अस्यां प्रकृतौ प्रकृतिलक्षणे स्वभावे सदिव कार्यत्वेन जगद्रूपं व्यक्तिं प्रकाशताम् आगतम्। यद् वस्तु सृष्टेः प्राक् सूक्ष्मतया असदिव मध्ये प्रादुर्भावेन सदिव व्यवह्रियमाणं पर्यन्ते प्रलयावस्थया पुनः सूक्ष्मत्वं दधत् तद् इत्थमेवोन्नेतुं शक्यमिति परमार्थः। एवं लक्षणकमेव वस्तु आदावन्ते च प्रतिपत्तिशून्यं निर्दिश्य मध्येऽपि तथा विलक्षणं निर्दिश्यते ॥१४५॥

स्वयमेव विचारस्तु स्वत उत्थं स्वकं वपुः।
विघट्य घटयत्याशु प्रत्यक्तं परमं महत् ॥१४६॥

स्वयमिति। आत्मनि तु स्वयमेव विचारो विमर्शलक्षणः यथासंकल्पं स्वत उत्थं स्वकं वपुः विघट्य अन्तःकरणज्ञानकर्मेन्द्रियैः संयुज्य परमं महत् प्रत्यक्तं भोग्यभावम् आशु घटयति संपादयतीति तात्पर्यम् ॥१४६॥

विचारवान् विचारोऽपि यदात्मानं प्रबोधते।
तदा राम ! निरुल्लेखं परमेवावशिष्यते ॥१४७॥

विचारवानिति। यदा विचारोऽपि विचारवान् सन् आत्मानं प्रबोधते अभेदतया अवगच्छति। बुधिर् अवगमने। हे राम ! तदा निरुल्लेखम् अविकल्पितं परं वस्तु एव अवशिष्यते केवलीभावेनावतिष्ठते ॥१४७॥

इदानीं सिंहावलोकनन्यायेन दैवनिराकरणं स्मारयन् पौरुषस्य प्राधान्यम् उट्टङ्कयति—

स्वयत्नमात्रे रघुराजसूनो !
तं दैववाच्यार्थमपास्य दूरे।
आसाद्यतेऽन्तः परमं पदं तत्
स्वपौरुषेणैव नहीतरेण ॥१४८॥

स्वयत्नेति। गीतोपनिषत्स्वपि अष्टादशे—'दैवं चैवात्र पञ्चमम्' इत्यनेन चतुर्भिः पञ्चमस्य दुर्बलत्वं व्यक्तमेवेति स्पष्टम् ॥१४८॥

विद्वन् द्विजाग्र्यो हि मुनित्वमीयात्
तद् बाहुजन्मा जनकत्वमीयात् ।
वणिक् तुलाधारसमत्वमीयाज्-
जनश्च शूद्रोऽपि च मुक्तिमीयात् ॥१४९॥

विद्वन्निति । प्राग्व्याख्यातमेतत् ।

तातश्रीसरयूप्रसादचरणस्वर्वृक्षसेवापरो
मातृश्रीहरदेव्यपारकरुणापीयूषपूर्णान्तरः ।
साकेतापरभागवद्धवसतिर्दुर्गाप्रसादः सुधी-
रास्ते तेन कृतेऽत्र रामचरिते गुच्छस्तृतीयो गतः ॥१५०॥

इति श्रीमति रामचरिते वासिष्ठनिर्यासे मुमुक्षुप्रकरणं नाम द्वितीयो-गुच्छकः । आदितस्तृतीयः ॥

अथ चतुर्थो गुच्छकः।

अथ सृष्टिप्रकारनिरूपणपुरस्सरं 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यागमानुभवयुक्तियुक्तं ब्रह्माद्वैतं प्रतिपादयितुं प्रकरणमवतारयति—

वाग्भाभिर्ब्रह्मविद् ब्रह्म भाति स्वप्न इवात्मनि।
यदिदं तत् स्वशब्दोत्थैर्यो यद् वेद स वेद तत् ॥१॥

वाग्भाभिरिति। वाचां 'तत्त्वमसि, ब्रह्माहमस्मि' इत्याद्युपनिषत्सारभूतानां द्वादशमहावाक्यानां, भाभिः स्वरूपप्रकाशैः। आत्मनि प्रत्यगात्मनि। स्वप्न इव भाति आविर्भूतं चकास्ति। स्वशब्दोत्थैः, स्वशब्दोत्थाश्च ब्रह्मणः स्वरूपप्रतिपत्तये क्रियमाणाः श्रवण-मनन-निदिध्यासनादिरूपा उपायाः, तैः। यद् वेत्ति, यादृशं ब्रह्म तत्त्वतः साक्षात्करोति। तद् वेद, तादृशमेव पूर्वानुभूतं सर्वस्मिन्नपि काले हृदयान्तः स्फुरति। इदमत्र तात्पर्यम्—

ब्रह्मातिरिक्तं न किमपि वस्तु इह परमार्थसद् भवितुमर्हति। 'आत्मैवेदं सर्वमित्यादि श्रुतिशासनाद् अनुभवसंवादाच्च। यच्चेदमनन्तप्रकारायमाणैर्वैचित्र्यप्रपञ्चैरुल्लसितम् असदपि सदिव प्रतीयमानं जगत्, तत्सर्वं स्वप्न इव आत्मन्यध्यस्तं केवलं कल्पनामात्रसारम्। इत्येवंरूपेण सकृदपि संजाते दृढप्रत्यये न कदाचिदपि मुमुक्षोरात्मस्वरूपबोधहानिप्रसङ्गः, न वा ज्ञातपरमार्थस्य तस्य मुक्तिसमयावधि स्वस्वरूपात्प्रच्यावः, ब्रह्मविषयकः संदेहप्ररोहो वा कथंचिदपि संभवति। 'सकृद्विभातोऽयमात्मे'-त्यादिश्रुतीनामप्यत्रार्थे एतदेव रहस्यम् ॥१॥

द्वाभ्यां बन्धस्वरूपं निर्दिशति—

बन्धोऽयं दृश्यसद्भावाद् दृश्याभावे न बन्धता।
दृश्यं त्वसंभवद् राम! यथेदं तच्छृणु क्रमात् ॥२॥
य एवोत्पद्यते कश्चित् स एव परिवर्तते।
उत्पत्तिः संसृतावेति प्रागभ्यात्मा तु शाश्वतः ॥३॥

बन्धोऽयमिति। बन्धः स्वस्वरूपानवमर्शः, मायाव्यामोहितत्वमिति वा। तथाच सांख्याः—प्रकारान्तरासंभवादविवेक एव बन्धः' (सां० सू० ६।१६)। परमार्थतो नात्मनि दृश्योत्पत्तेः पूर्वं परतो वा विकृतेः कुतश्चन संभवः। तथा च श्रुतिः—

'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्तिरित्येषा परमार्थता ॥'

इति । दृश्यं जगदाद्यात्मना भासमानो वेद्यवर्गः । स्मरन्ति च शास्त्रकृतः–

'यदिदं दृश्यते किंचिद् दर्शनात् तन्न भिद्यते ।
दर्शनं द्रष्टृतो नान्यद् द्रष्टैव हि ततो जगत् ॥'

इति । अयं दृश्यपदार्थः–"द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः,' 'प्रकाशक्रिया-स्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्', द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः," (यो० द० २ पा० १७–१८, २०) इत्यादिसूत्रैर्योगदर्शने प्रपञ्चितः ॥२॥

य एवोत्पद्यत इति । संसृतौ संसरणदशायाम् । संसरणं च–जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, नश्यतीति षड्भावविकारनेमियुक्तम् । प्रागभ्यात्मा प्रत्यक्चेतनः । शाश्वतः शश्वद्भवः, अणु ॥३॥

यदेतद् दृश्यते सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम् ।
तत् सुषुप्ताविव स्वप्नः कल्पान्ते प्रविनश्यति ॥४॥

यदेतदिति । स्थावरं जङ्गमादितरद् । कल्पान्ते कल्पप्रलये । सुषुप्तौ, जीवस्य ज्ञानशून्यावस्थायाम् । उपनिषत्स्वियं सुषुप्तिरेवं विवृता–

'यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते, न कंचन स्वप्नं पश्यति ।'
(बृ०उ० ४।३।१९)

'यत्रैतत्पुरुषः सुप्तः स्वप्नं (स्वप्नसृष्टफलं) न कंचन पश्यति ।'
(कौषी० उ० ३।३)

'तद् यत्रैतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानाति ।'
(छां० उ० ८।६।३)

अन्यत्रापि–

"अक्षैर्योऽर्थग्रहः पुंसां तज्जाग्रदिति कथ्यते ।
यत्तैर्विनार्थस्मरणं मनसा स्वप्नसंज्ञितम् ॥
यत्रार्थस्मरणे न स्तस्तत् सौषुप्तमिति स्मृतम् ।
शुद्धबोधैकरूपो योऽवस्थातः सैव तुर्यता ॥"

इति ॥४॥

ततः स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम् ।
अनाख्यमनभिव्यक्तं सत् किंचिदवशिष्यते ॥५॥

तत इति । स्तिमितम् अमूर्तत्वान्निष्क्रियम् । गम्भीरं परिच्छेदानर्हम् । न तेजः, नीलपीतादिरूपविरहात् । न तमः, प्रकाशैकधर्मत्वात् । अनाख्यम्, निर्धर्मकतया इदमित्थमिति निर्देष्टुमशक्यम् । अनभिव्यक्तम्–स्वानुभवैकगम्यतया बाह्यप्रमाणानामगोचरम् ॥५॥

ऋतमात्मा परं ब्रह्म सत्यमित्यादिनामभिः ।
शब्द्यते व्यवहारार्थं तत् सदेव महेश्वरः ॥६॥

ऋतमात्मेति । आत्मनो निर्वचनं तु–

'यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह ।
यच्चास्य संततो भावस्तस्मादात्मेति शब्द्यते ॥'

इति व्यासानुशिष्टमिह द्रष्टव्यम् । ब्रह्म, बृहत्त्वाद् बृंहकत्वाद् वा । व्यवहारश्च उपदेश्योपदेशरूपः, तदर्थम् । नहि संज्ञाकरणमन्तरा व्यवहारः कश्चन घटते । लोकेऽपि देवदत्तादिपदव्यपदेश्या हि व्यवहारभाजो भवन्तीति ॥६॥

स तथाभूत एवात्मा स्वयमन्य इवोल्लसन् ।
जीवतामुपयातीव वीचितामिव वारिधिः ॥७॥

स तथेति । तथाभूतः चित्स्वभावतया स्थितोऽपि मुग्धः सन् अन्यः, आकाशादिक्रमोद्भूतलिङ्गसमष्ट्यात्मा जडः, स इव उल्लसन्, तदनुप्रवेशात् तदभिमानेन प्राणधारणाद्युपाधिना देहत्वमनुप्रविष्टः जीवताम् उपयाति इव, जीवव्यवहारं प्रतिपद्यत इव । वस्तुतस्तु इदं विभ्रमविजृम्भितमेवेति इवोपादानात् सूचितम् । दर्शनान्तरेऽपि —

'देहप्राणविमर्शनधीज्ञाननभःप्रपञ्चयोगेन ।
आत्मानं वेष्टयते चित्रं जालेन जालकार इव ॥' (परमार्थसार ३२) इति ॥७॥

ततः स जीवशब्दार्थकलनाकुलतां वहन् ।
मनो भवति भूतात्मा मननान्मन्थरीभवन् ॥८॥

तत इति । क्रियाशक्तिप्रधानं प्राणधारणमेव जीवशब्दार्थः । तत् कलनेन आकुलतां चञ्चलताम् । भूतात्मा भौतिकलिङ्गात्मा । मननात् संकल्पविकल्परूपात् । मन्थरीभवन् जाड्ये न मन्दीभवन् । मनो भवति परमात्मभावं विस्मृत्य मनः संपद्यते । मनो धर्मानपि संकल्पादीन् आत्मन एव मन्यत इति भावः ॥८॥

तत् स्वयम् स्वैरमेवाशु संकल्पयति नित्यशः ।
तेनेत्थमिन्द्रजालाभं जगदेतद् विवर्तते ॥९॥

तदिति । तदेवं समष्टिमनोभावमापन्नं हिरण्यगर्भाख्यं ब्रह्म, स्वयम् अन्येन अबोधितमपि पूर्ववासनानुरोधाद् विराड्भावं, भुवनादिभावं तत्र च चतुर्विधभूतग्रामभावमिति नित्यं स्वैरमेव संकल्पयतीति स्पष्टार्थः । तेन सत्यसंकल्पेन इन्द्रजालाभम् इन्द्रजालोपमम् । विवर्तते अतत्त्वतः अन्यथा प्रथते ॥९॥

यथाहि हेम्नः कटकं न पृथग्भावमश्नुति ।
कटकान्न च हेमापि ब्रह्मणीदं तथा जगत् ॥१०॥

यथाहीति । हेमकटकरूपात् कांचनात् कटकशब्दार्थो यथा न पृथग्भावं भजते तथा ब्रह्मणि प्रतिभातं जगदपीदं न पृथग्भावमश्नुति । तदेवम् अध्यारोपशतैरपि नाधिष्ठानस्य पारमार्थिकी स्थितिर्भज्यत इति वस्तुपरमार्थः ॥१०॥

परं जगति न ब्रह्म हेम्नीव कटकात्मता ।
सैकतोस्त्रेण वारीव मनसैतज्जगद्भ्रमः ॥११॥

परं जगतीति । सैकतोस्रेण मरुमरीचिकया । सैकतं सिकतामयम्—किरणोस्रमयूखांशुः—इत्यमरः ॥११॥

अविद्या संसृतिर्बन्धो माया मोहो महत्तमः ।
इत्यज्ञानस्य पर्यायाः कथिता मर्मवेदिभिः ॥१२॥

अविद्येति । विद्यापोह्यत्वादविद्या । ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्संसरणाद्धेतोः संसृतिः । स्वातन्त्र्यविघटकत्वाद् बन्धः । मिथ्यात्वात् माया, विश्वमोहकतया वा । मीयते परिच्छिद्यते प्रमातृप्रमेयप्रपञ्चो ययेति वा । भ्रमहेतुत्वान्मोहः । दुस्तरत्वान्महत् । स्वरूपावरकत्वात् तम इति ॥१२॥

बन्धमोक्षयोः स्वरूपमाह द्वाभ्याम्—

द्रष्टुर्दृश्यस्य सत्तैव बन्ध इत्यभिलप्यते ।
द्रष्टा दृश्यबलाद् बद्धो दृश्याभावे तु मुच्यते ॥१३॥
जगत्त्वमहमित्यादिर्मिथ्यात्मा दृश्यमुच्यते ।
यावदेतत्संभवति तावन्मोक्षदशा क्व च ॥१४॥

द्रष्टुरिति । जगत्त्वमहमिति च । स्पष्टार्थौ ॥१३-१४॥

नेदं नेदमितिव्यर्थप्रलापैर्नोपशाम्यति ।
संकल्पजनकैर्दृश्यव्याधिः प्रत्युत दीप्यते ॥१५॥
जगद्दृश्यं तु यद्यस्ति न शाम्यत्येव कस्यचित् ।
नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ॥१६॥

नेदमिति । जगद्दृश्यमिति च । दृश्यसद्भावे, नेदं नेदमित्युपेक्षया कथंचिदेकस्य निराकरणेऽपि परः प्रसज्जते, ततोपीतर इत्येवं दृश्यपरंपराया यथोत्तरं प्ररोह, तस्मान्न केवलया वाचा बाधः यावद् विचार सहकारेणैवेति । दृश्यव्याधिः-दृश्यमेव व्याधिः, दृश्यं वा व्याधिरिवेति । पूर्वत्र मयूरव्यंसकादित्वात्समासः परत्र च उपमितसमासः । व्याधिरिव दृश्योच्छेदो न सुकर इति भावः । दीप्यते दीपदीप्तौ-भावे लट् ॥१५-१६॥

मोक्षे प्रतिबन्धकान् हेतूनाह—

अचेत्यचित्स्वरूपात्मा द्रष्टा यत्रैव तिष्ठति ।
तत्रैवैतस्य दृश्यश्रीः समुदेत्यप्यणूदरे ॥१७॥

अचेत्येति । अचेत्यः बोद्धुमशक्यः चित्स्वरूप आत्मा यस्य, एतादृशः । अज्ञातात्मेति यावत् । यत्रैव दृश्यसमावेशायोग्ये परमाणूदरादावपि तिष्ठति स्थितिं लभते । तत्रैव एतस्य आत्मनः दृश्यश्रीः दृश्यबीजं समुदेति प्रादुर्भवति । अणूदरे-अणुः पूर्णाहंभावशून्यः संकुचितंमन्यो जीवः, तस्य उदरे उदरकोटरे-इति । यत्र क्वापि एवंभूतप्रदेशे तिष्ठन्नेतेनावश्यं परिभूयते ॥१७॥

जगत्प्रतिफलत्येवमादर्श इव चित्यपि ।
जन्ममृत्युरुजाकीर्णा ततो दुःखपरंपरा ॥१८॥

जगत्प्रतीति । आदर्श इव यथा मुकुरतले सर्वं साक्षात् क्रियते, एवं चित्यपि परमाणूदरेऽप्यात्मनि ब्रह्माण्डान्तः समावेशः संभवत्येव । न तत्र प्रदेशकृतं प्राचुर्यं संकोचो वा अनुरुध्यत इति ॥१८॥

इदं प्रमार्जितं दृश्यं मयात्राहमवस्थितः ।
एतदेवाक्षयं बीजं समाधौ संसृतिस्मृतेः ॥१९॥

इदमिति । प्रमार्जितं ज्ञाननिरपेक्षेण सविकल्पकेन समाधिना दूरोत्सारितम् । समाधौ-समाधिश्च 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः' (यो० द० ३।३) इत्येवंरूपः, तस्मिन् । समाधिस्थश्चेत् संसृतिं स्मरति, तदा समाधेरेव भङ्गः । अस्मृता सा नैव माष्टुं शक्यते । एतदेव चास्य दृश्यस्य अक्षयं बीजम्—यन्मूलको दीर्घदीर्घतरः संसरणव्यापारः ॥१९॥

सति दृश्ये कुतो राम ! निर्विकल्पसमाधिता ।
समाधौ चेतनत्वं च तुर्यत्वं चोपपद्यते ॥२०॥

सति दृश्यते । दृश्यसत्तायां निर्विकल्पकः समाधिरेव न घटते, कुतस्तेन मार्जनम् । सत्यपि वा तस्मिन् चित्तसत्त्वे चेतनत्वं, तस्याप्युपरामे तुरीयावस्था चेति न समाधिरत्र प्रभवतीति व्यक्तम् ॥२०॥

सुषुप्तान्त इवैतस्मिन् व्युत्थाने दुःखदर्शनात् ।
भूयोऽनर्थपरिक्लिष्टे क्षणसाम्ये हि किं सुखम् ॥२१॥

सुषुप्तान्तेति । व्युत्थानं विरुद्धमुत्थानम् । 'प्रादयो गता' (वा० २।२।१८) इति समासः । 'ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः (यो० द० ३।३६) एतदभिप्रेत्योक्तम्—

"द्रव्यमन्त्रक्रियाकालशक्तयः साधुसिद्धिदाः ।
परमात्मपदप्राप्तौ नोपकुर्वन्ति काञ्चन ॥
सर्वेच्छालाभसंशान्तावात्मलाभोदयो हि यः ।
स कथं सिद्धिवाञ्छायां मग्नचित्तेन लभ्यते ॥" इति ॥२१॥

न च पाषाणताप्रख्या रूढिं प्राप्ताः समाधयः ।
भवन्त्यग्रपदं शान्तं चिद्रूपमजमव्ययम् ॥२२॥

न च पाषाणेति । पाषाणताप्रख्याः अश्मशकलकल्पाः, अनात्मभूता इत्यर्थः । रूढिं प्रसिद्धिम् । अजम्—न जायते इत्यजः । डः । तम् । अव्ययम्—न व्येति यत् तत् । 'एरच्' इत्यच् । अग्रपदं मोक्षरूपम् । न भवन्ति न जायन्ते ॥२२॥

तस्माद् यदीदं सद् दृश्यं तन्न शाम्येत् कदाचन ।
शाम्येत् तपोजपध्यानैरिति मन्दविचारणा ॥२३॥

तस्मादिति । तदित्थं सतो दृश्यस्योपशमः सर्वथा असंभवी । शाम्येत्—प्रशमं यायात् । शमु उपशमे । संभावनायां लिङ् । मन्दविचारणा—मन्दानां मन्दा वा विचारणेति चेत्युभयथा योज्यम् । स्वात्मज्ञानलाभे नियतिशक्तिसमुत्थं जपध्यानयज्ञादिकं नोपायतया क्रमत इत्याशयः । भगवद्गीतास्वपि—'नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ॥' (११–५३) इति ॥२३॥

प्रलीनारोहसंतानं यथा पद्माक्षकोटरे ।
जागर्ति पद्मिनीबीजं तथा द्रष्टरि दृश्यधीः ॥२४॥

॥ इति बन्धहेतुदर्शनम् ॥

प्रलीनेति । प्रलीनः सूक्ष्मतयान्तर्गूढः, आरोहस्य संतानः प्रसवो यस्मिन्—तत् । पद्मिनीबीजम्—पद्मिनी कमलिनी तस्याः बीजम् उपादानभूतम् । जागर्ति—आस्ते । द्रष्टरि प्रमातरि, दृश्यधीः— दृश्यसहिता धीः बुद्धिः—मध्यमपदलोपी समासः ॥२४॥

॥ इति बन्धहेतुदर्शनम् ॥

कामकर्मवासनासंभृतया अविद्यया उपहितः आत्मैव जगद्बीजं मृत्युबीजं च, विद्यया तद्बीजनिष्ठायाः शक्तेर्दाहे न मृत्युवशो भवतीति प्रागुक्तं—तत्र जगतः सर्गे प्राथम्यमुपगतस्य आकाशतत्त्वस्य शोधनमुखेन वक्ष्यमाणार्थे आख्यायिकामुपन्यस्यति—

भो ! एवं किलाख्यायते—आस्त आकाशजो नाम विप्रः । यस्य-चिरजीवितां विलोकयन्मृत्युर्मीमांसामास— मया खलु क्रमेण कृत्स्नानि

भूतान्यघत्सत, इयदि कृपाणधारेवात्र मम शक्तिः कुण्ठतीति तेन पृष्टो यम ऊचिवान् । मृत्यो ! अलं स्वपौरुषावहेलनेन । एष आकाशज आकाश एव, नास्य कानिचिन्निधनकारणानि कर्माणि, न चाजाताकृतेरिवास्य प्राक्तनैः कर्मभिः सह किंचिदपि श्लेषः, तत एवास्य नावशं मानसम्, न चानेन मनागपि क्रियते, यत्पुनरस्य प्राणस्पन्दः कर्मानुमीयते तदत्र न कुसधीः, पयसि द्रवत्वमिव नभस्वति स्पन्दनत्वमिव विहायसि शून्यत्वमिवैष परमे पदे तिष्ठन् स्वकारणाभिन्नः स्वयंभूः कथमिव गृह्यते ॥२५॥

भोः एवं किलेति । किलेति वार्तायाम् अव्ययम् । आकाशजः–आकाशाद् ईषत्प्रकाशाद् ब्रह्मणो जातः, लिङ्गसमष्ट्यात्मा हिरण्यगर्भः । चिरजीविताम्–चिरजीविनो भावः, ताम् । मृत्युवशगो न भवतीति यावत् । मीमांसामास=विचारयामास । मानपूजायामिति धातोः–'मानेर्जिज्ञासाम्' (वार्ति०) इति जिज्ञासार्थे–'गुप्तिजकिद्भ्यः सन्' (पा० सू० ३।१।५)–'मान्बधदान्शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य' (पा० सू० ३।१।६) इति सूत्राभ्यां सनि अभ्यासदीर्घे च मीमांस धातुः । ततः कर्तरि लिट् । अघत्सत अद्यन्तेस्म । अद् भक्षणे इत्यस्मात् कर्मणि लुङ् । ऊचिवान् उक्तवान् । वच धातोः क्वसुप्रत्ययः । नास्य······कर्माणि–प्रारब्धाधिकारफलानां फलारम्भेणैव विनाशात्, संचितानां ज्ञानेन बाधात्, आगामिनां बीजाभावात् नास्य कर्मानुषङ्गि निधनम्–इति भावः । अजाताकृतेः–अनुत्पन्नाकारस्य इव । प्राक्तनैः······श्लेष इति–प्राक्तनैः पुराभवैः श्लेषः सम्बन्धः । तथाच सूत्रम्–'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशाविति' (ब्र० सू० ४।१।१३) । ततः "मानसम्–पूर्वदेहस्पन्दवासनावशो हि चित्तस्पन्दः स च नास्त्येवेतिभावः । न चा······क्रियते । तथाचायं परब्रह्मस्वभावे एव स्थितो न दृश्यस्वभावे । प्राणस्पन्दः–स्पन्दनं स्पन्दः–स्पदि किंचिच्चलने । प्राणस्य स्पन्दः क्रियौन्मुख्यम् ॥२५॥

भगवन् ! कृतान्त !! शून्यात् कथमुपमुत्पन्न इति मृत्युना पृष्टो यमः पुनरूचे— अयं ब्राह्मणो न कदाप्यजनि न वा नास्ते महाप्रलयवेलायां केवलं चिन्मात्रं संतिष्ठते । तदनु येनास्य संवित्स्वभावत्वात्

पुरस्तान्महन्महो देहोऽहमिति चेतति तेनैव काकतालीयवद् भ्रान्तमाकारं पश्यति द्रष्टा । स चायं तदानीमम्बरान्तरे निर्विकल्पश्चिदाकाशरूपो विज्ञानघन एवातत आस्थितः ॥२६॥

भगवन्निति । निर्विकारस्य शून्यस्य विकारः, अजस्य जन्म, सतां पृथिव्यादीनामसत्त्वं च यदुच्यते तत्कथं शक्यसंभवमिति संदिहानो मृत्युराचष्टे—भगवन्निति । अयं ब्राह्मणो ''अजनीत्यादिना यमः प्रतिवक्ति—न वयं शून्यत्वाभिप्रायेण परस्य आकाशत्वं पृथिव्यादीनां चासत्त्वमभिदध्मः किंतु कारणात् पृथक् कार्यस्य सत्त्वैव नाङ्गीक्रियते । एवम् अजस्योत्पत्तिकथनमपि विवर्ताभिप्रायेण न परिणामबुद्ध्या । ततश्च अयं द्विजः परमार्थतः केवलविज्ञानभामात्रम्, ततश्च स तथैव सदास्थितो न विकृतः । महाप्रलय ·····संतिष्ठते—आद्यन्तयोः चिन्मात्रपारिशेष्यात् तदेवास्य स्वाभाविकं रूपमिति । तदनु······द्रष्टेत्यन्तम्—तदनु सर्गारम्भकाले येन वासनादृष्टसंभृतजीवाविद्याहेतुना, पुरस्तात् पुरतः, महतो विराड्रूपस्य चतुर्मुखस्य वा देहोऽहमित्यभिलापयोग्यं, महः स्थूलं रूपं चेतति ईषत्स्फुरति, तेनैव अविद्याहेतुना, काकतालीयवत्—काकागमनमिव तालपतनमिवकाकतालम्, काकतालमेव काकतालीयम्—काकतालशब्दाद् इवान्तरार्थे सादृश्यान्तरे 'समासाच्च तद्विषयात्' (पा० सू० ५।३।१०६) इति छप्रत्ययः, 'आयनेयीनीयियः—' (पा० सू० ७।१।२) इति तस्य ईयादेशः । अतर्कितोपनतमिति फलितार्थः । स्वप्न इव भ्रान्तं मिथ्याभूतम् आकारं पश्यति द्रष्टा अस्मदादिजनः । सचायं·····आस्थितः—विज्ञानघनः विशुद्धज्ञानैकरूपः, आततो विततः । परदृष्ट्यध्यस्तदेहादिना नास्य निर्विकल्पतादिक्षतिरिति भावः ॥२६॥

नास्य कायो न कर्माणि न कर्तृत्वं न वासना ।
केवलं व्योमरूपस्य भारूपस्येव तेजसः ॥२७॥

नास्येति । पूर्वं प्रपञ्चितस्य निष्कृष्टार्थः ॥२७॥

वेदनामात्रशान्तौ तु नेदृशोऽप्येष दृश्यते ।
तस्माद् यथा चिदाकाशस्तथा तत्प्रतिपत्तयः ॥२८॥

वेदनेति । वेदना, बहिर्मुखचित्प्रवृत्तिः, तन्मात्रस्य शान्तौ । ईदृशोऽपि, प्रातिभासिकरूपोऽपीति । तस्माद् अधिष्ठानतत्त्वस्य परिचयेन विषयबाधात्,

तत्प्रतिपत्तयः वेदना अपि, यथा चिदाकाशः तथैव तद्भावादवतिष्ठन्त इत्याशयः ॥२८॥

एवमिह सौरभस्येव वेदनस्यानवकाशे पुष्पस्येव पृथिव्यादेरवकाशस्य वार्तैव दूरोदस्ता। तदत्राक्रमणसाहसं नभसि बीजाकरणकल्पमिति यमेन नियमितो मृत्युर्यथागतं गतवान्। एतन्निशम्य, पितरेष मम पितामहो नूनमिति रघूद्वहेन निवेदितो ब्रह्मभूराहस्म—भो एष खलु संकल्पाकाशशरीरो ब्रह्मा मन इति ॥२९॥

एवमिहेति। सौरभस्य सुरभेर्भावः—अण्। सद्गन्धस्य इव। वेदनस्य चित्स्वभावानां वेदनानां अनवकाशे असहने, पृथिव्यादेः दृश्यप्रपञ्चस्य। दूरोदस्ता—दूरे उदस्ता प्रतिक्षिप्ता। नभसि व्योम्नि, बीजाकरणकल्पं बीजोप्तिसदृशं—गगनकुसुमायितमित्यर्थः। निशम्य आकर्ण्य। पितः गुरो! अनेन वसिष्ठमभिमुखीकरोति। एष आकाशजब्राह्मणेति नामान्तरप्रतिपादितो ब्रह्म पितामहः पद्मयोनिः 'पितृव्यमातुल—' इति साधुः। रघूद्वहेन रघुषु उद्वहः रक्षादिभारधारकः—उद् + वह + अच्। तेन। रामभद्रेणेत्यर्थः। ब्रह्मभूः—ब्रह्मणो भवति इति—'भुवः संज्ञान्तरयोः' (पा० सू० ३।२।१७९) इति क्विप्। वसिष्ठः। आहस्म उक्तवान्। 'ब्रुवः पञ्चानामादित—' इत्यादिना ब्रूञो लटि आहादेशः। संकल्पाकाशशरीरो ब्रह्मा मन इति। संकल्पमात्रमेव मनोरूपम्। न पृथिव्यादिघटितम्। ब्रह्मा प्रजापतिः ॥२९॥

निराकारोऽपि संकल्पः कथं पुरुषाकारतामापन्न इति दर्शयति—

चिद्व्योम केवलमनन्तमनादिमध्यं
ब्रह्मेति भाति निजचित्तवशात् स्वयंभूः।
आकारवानिव पुमानिव वस्तुतस्तु
वन्ध्यातनूज इव तस्य तनोरभावः ॥३०॥

॥ इत्याद्यसर्गकर्तृनिरूपणम् ॥

चिद्व्योमेति। मनसो ब्रह्माकारकल्पनापरिणामो न वास्तवः, किंतु शुद्धं ब्रह्मैव अज्ञानात् तथा विवर्तत इति तात्पर्यम् ॥३०॥

ब्रह्मणो मनोरूपत्वाभ्युपगमे, मनसश्च वासनाजालरूपत्वात् प्राक्तनं वासनाजालं न किंचिदस्य वर्तत–इति कथनं न बुद्धिपथमारोहतीति मन्यमानो राघवः प्रश्नं प्रस्तौति—

भगवन् ! यदि पृथिव्यादिवर्जितं मनो ब्रह्मेति गीयते तर्हीतरस्येव ब्रह्मणः शरीरे प्राक्तनी स्मृतिः किं न कारणमिति राघवेण पृष्टो वसिष्ठ आख्यत—यस्य किल पूर्वकर्मानुबन्धी देहस्तस्यैव संसृतिसद्भावात् स्मृतिः कारणम् । ब्रह्मणो हि पूर्वकर्माभावे प्राक्तनस्मृतेः क इव संक्रमः । कारणात्मन इतरस्येव नापि ब्रह्मण आतिवाहिक आधिभौतिक इति देहद्वितयं केवलमातिवाहिक एव ॥३१॥

भगवन्निति । इतरस्येव अस्मदादिवत् पश्वादिवच्च । प्राक्तनी स्मृतिः–पूर्वशरीरत्यागसमयोद्भूता स्मृतिः । 'यं यं वापि स्मरन् भावमिति गीतोक्तेरस्मदादिरिव ब्रह्मणः शरीरे कुतो न प्राक्तनी स्मृतिः । सत्यां च तस्यां तदुद्भवाधारसंस्कारदेहादिकेनापि प्राक्तनेन नून भाव्यमिति । संक्रमः संक्रमणम् । प्रवेश इति यावत् । आतिवाहिकः–अतिवहनम् अर्चिः । धूमादिमार्गेण लोकान्तरप्रापणम् । तत्र साधुरिति ठक् । अस्मदादेर्लिङ्गदेह इव सूक्ष्म इति यावत् । अधिक तु 'आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात्' (ब्रह्मसू० ४।३।४) इति सूत्रस्थ-शारीरकभाष्यादवगन्तव्यम् । आधिभौतिकः, भूतानि व्याघ्रसर्पादीन्यधिकृत्य जातः । अधि + भूत + ठञ् । उभयपदवृद्धिः । स्थूलभूतजः । शेषं सुगमम् ।

सर्वासां भूतवृत्तीनामेकोऽजः कारणं परम् ।
न चास्य कारणं कोऽपि तेनासावेकदेहवान् ॥३२॥
चित्तमात्रशरीरोऽयं न भूम्यादिक्रमोत्थितः ।
प्रजापतिर्व्योमरूपः प्रजाः प्रतनुतेतराम् ॥३३॥

सर्वासामिति । चित्तमात्रेति च । पूर्वोक्तस्य फलितार्थभूतत्वात् स्पष्टार्थौ ॥३२–३३॥

ताश्च चिद्व्योमरूपिण्यो विनान्यैः कारणान्तरैः ।
यद् यतस्तत् तदेवेति सर्वैरेवानुभूयते ॥३४॥

ताश्चेति। ताः प्रजाः, अन्यैः तत्संकल्पव्यतिरिक्तैः, कारणान्तरैः कारणभेदैः। यद् वस्तु, यतः यस्मादुपादानाज्जातम्। अनुभूयते कनककुण्डलादौ। ततश्च जगतो ब्रह्ममात्रत्वमेव सिद्धम् ॥३४॥

निर्वाणमात्रं पुरुषः परो बोधः स एव हि।
चित्तमात्रं तदेवास्ते नाभ्येति वसुधादिताम् ॥३५॥

निर्वाणमात्रमिति। निर्वान्त्यत्र इति निर्वाणम्, तन्मात्रं निर्वृतिमात्रमित्यर्थः। वा गतिगन्धनयोः। भावे अधिकरणे वा व्युत्पन्नः। 'क्तोऽधिकरणे च' (पा० सू० ३।४।७६) इति-'नपुंसके भावे' (पा० सू० ३।३।११४) इति वा क्तः। 'निर्वाणोऽवाते' (पा० सू० ८।२।५०) इति निष्ठानत्वम्। निर्वाणमस्तंगमने निर्वृतौ गजमज्जने। संगमेऽप्यपवर्गे च-'-इति मेदिनी। यतः स चित्तोपाधिः। चित्तभ्रान्त्या चित्तमात्रभूतोऽपि परमार्थतः सः चिदाकाश एवास्त इति न पुनर्भौतिकपुरुषादिभावमायातीत्यर्थः ॥३५॥

भगवन्! किं रूपं मनो येन नैकविधा जगन्मञ्जरी संचार्यत इति पृष्टो मुनिकुञ्जर आख्यत—॥३६॥

भगवन्निति। किं रूपं मनः। मनसः तात्त्विकं स्वरूपं कीदृशमिति भावः। जगन्मञ्जरी लोकवल्लरी। संचार्यते प्रसार्यते। समुपसृष्टाच्चरतेर्ण्यन्तात् कर्मणि लट्। मुनिकुञ्जरः मुनिश्रेष्ठः ॥३६॥

परमार्थदृशा मनो नाम नास्त्येव किमपि तथापि शास्त्रीय-व्यवहारोपयोगि कल्पित तद्रूपमाह—

यदर्थप्रतिभानं तन्मन इत्यभिधीयते।
अन्यन्न किंचिदप्येतन्मनो नाम रघूत्तम! ॥३७॥

यदर्थप्रतिभानमिति। यत् अर्थप्रतिभानम् अर्थाकाराध्यासः। तदेव मन इत्यभिलप्यते, नैतदतिरिक्तं किमपि मनसो निर्वचनं शक्यमुत्प्रेक्षितुमिति भावः ॥३७॥

वस्तुतो मनसो रूपं न मनागपि लभ्यते।
नाममात्रादृते व्योम्नो यथा शून्यजडाकृतेः ॥३८॥

वस्तुत इति। नाममात्रादृते– नाममात्रात् नाम्ना एव केवलात्। 'अन्यारादिति' ऋतयोगे पञ्चमी। अतएव तत्कार्येषु–'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव तु सत्यम्' इति श्रुतौ मिथ्यात्वमस्योपपद्यते। शून्यजडाकृतेरिति भूतव्योम्नो मनसश्च साधारणम् ॥३८॥

न बाह्ये नापि हृदये सद्रूपं दृश्यते मनः।
सर्वत्रैव स्थितं चैतदवधेहि यथा नभः ॥३९॥

न बाह्येति। अनेन नभसा मन साम्यमुपदर्शितम्। शेषं स्पष्टम् ॥३९॥

मध्ये यदेतदर्थस्य प्रथते प्रतिभासनम्।
सतो वाप्यसतो वापि तन्मनोऽवेहि नेतरत् ॥४०॥

मध्ये यदेतदिति। प्रत्यक्षे सतः स्मृत्यादिपरोक्षे चासतो वा अर्थस्य मध्ये यदेतत् तदाकारप्रतिभानं प्रथां गतं सर्वलोकस्य तदेव मनः। मन्यतेऽनेन–इतिकरणे असुन्। निराकारचितोऽर्थाकाराध्यास एव मन इत्यर्थः ॥४०॥

इदमस्मात् समुद्भूतं मृगतृष्णाम्बुसंनिभम्।
रूपं तु क्षणसंकल्पाद् द्वितीयेन्दुभ्रमोपमम् ॥४१॥

इदमिति। इदं जगत्। अस्माद् मनसः। भ्रमः तद्विषयोऽध्यासः, तदुपमम् ॥४१॥

भगवन्! सच्चेन्नेदं दृश्यं शाम्यति असन्नावगम्यत इति कथंकारमियं दृश्यविषूचिका पिपीलिकानाशं नङ्क्ष्यतीति राघवेणोक्तो मुनिवृषा व्याख्यत— भो! अस्य दृश्यपिशाचस्य निरासाय तावदेष मन्त्रराजः, सतो नाशायोगान्नष्टमप्येतदन्तर्बीजभूतं भवेदेव ततः स्मृतिसेकेन दृश्यधीरुद्भूय विविधदोषकुसुमस्तबकां भववल्लरीं विकासयेदित्यनिर्मोक्षः प्रसजति, स एष मोक्षपथाधिरूढानामेतेषां देवर्षिमुनिसार्थानां दर्शनादिव बाढं कान्दिशीकायते ॥४२॥

भगवन्निति। दृश्यस्यासत्त्वे भवदुक्तः केवलीभावो नूनं संगच्छेदेव, परं सत्सदित्येव दृश्यानुभवात् तद् विरुध्यत इति परिणामवादाभिप्रायेणात्र राघवस्य

प्रश्नः । दृश्यविपूचिका– दृश्यरूपा विपूचिका प्रवाहिका । कथंकारं केन प्रकारेण । 'अन्यथैवं कथमित्थंसु सिद्धाप्रयोगश्चेत्' (३।४।२७) इति कृञो णमुल् । पिपीलिकानाशं जीवनाशं नश्यतीत्यर्थः । 'कर्त्रोर्जीवपुरुषयोर्नशिवहोः' (३।४।४३) इति नशेः कर्तरि णमुल् । नङ्क्ष्यतीति-णश अदर्शने– इति दैवादिकात् कर्तरि लृट् । दृश्यमेव पिशाचः–पिशितमाचामति–इति योगार्थात् पिशाच इवाकुलयतीत्यर्थः । अयमत्राभिसंधिः– असतोऽप्यविद्यया सदनुबोधाद् दृश्यस्य सत्ताभ्रमः । कैवल्यभावोदये तु अविद्याया मूलोच्छेदान् नायं भ्रमः समुदेति । प्रथमं जीवन्मुक्तदर्शनलिङ्गेन अनिर्मोक्षप्रसञ्जनेन च दृश्ये सत्यताविश्वासं वारयतो विवर्तवादमभ्युपेत्य भगवतो वसिष्टस्य प्रतिवचनम् । मुनिवृषा मुनिश्रेष्ठः । व्याख्यत व्याचख्यौ । मन्त्रराजः– मन्त्राणां राजेति विग्रहः । 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' इति समासान्तष्टच् । सतो नाशायोगात् ········भवेदेव । इहेदमाकूतम्— परिणामवादे हि वस्तुत उत्तरोत्तरावस्थाभिः पूर्वपूर्वावस्थातिरोभावमात्रम् , नात्यन्तिकोच्छेदः । सतोऽसत्त्वायोगात् । तथाच नाशलक्षणेन पार्यन्तिकेनापि विकारेण तिरोहितस्य द्वैतस्य चित्ते प्रकृतौ वा अवस्थितस्य कामकर्मवासनाबीजात् पुनरुद्भवो दुर्वार एव- इत्यनिर्मोक्षप्रसङ्गः– इति । स्मृतिसेकेन– स्मृत्या सेकः सेचनम्– तेन । स्मृतिग्रहणं भोगोपयुक्तान्तःकरणवृत्तिप्रमुखस्य सर्वस्यापि जगतः उपलक्षणम् । उद्भूय प्रादुर्भूय । विविधदोषकुसुमस्तवकाम्– विविधाः विविधप्रकाराः ये दोषा अविद्याजन्मानः– त एव कुसुमस्तवकाः प्रसूनगुच्छकाः– ते सन्ति यस्यां सा, ताम् । भववल्लरीम्– संसारमञ्जरीं विकासयेत् प्रादुष्कुर्यात् । मोक्षपथाधिरूढानां जीवन्मुक्तानां देवर्षिमुनिसार्थानाम् । देवाश्च ऋषयश्च मुनयश्चेति– देवर्षिमुनयः– तेषां सार्थः सङ्घः– तेषाम् । कान्दिशीकायते– कान्दिशीक इवाचरतीति आचारार्थे क्यच् । बिभ्यदिव नोपसर्पति । कान्दिशीको भयद्रुतः– इत्यमरः ।

चिदात्मा यं स्वबाह्यप्रधानस्थमेव दृश्यं बुद्ध्यविवेकात् स्वहृत्स्थितमिव पश्यति– सोऽयं संसारः विवेकज्ञानोदयात् तदविवेकाभिमाननिवृत्तौ सत्यामपि बहिः तस्मिन्– ततो विषयरागिणाम् आरम्भादिवादिनां च मोक्षः स्यादिति सांख्यसरणिं पुरस्कृत्य आशङ्कते । तथा च गौडपादाः—

'अस्पर्शयोगो नामैष दुर्दर्शः सर्वयोगिनाम् ।
योगिनो बिभ्यति यस्मादभये भयदर्शिनः ॥'

इति ॥४२॥

यदि स्याज्जगदादीदं ततो मोक्षो न कस्यचित् ।
बाह्यमाभ्यन्तरं वास्तां दृश्यं नाशाय केवलम् ॥४३॥

यदि स्यादिति । स्पष्टम् ॥४३॥

तस्मादिमां प्रतिज्ञां त्वं शृणु रामातिभीषणाम् ।
यथायुक्ति यथाशास्त्रं संदर्भेऽत्र विजृम्भिताम् ॥४४॥

तस्मादिति । तस्माद्- विवर्तवादस्यैव परिशिष्टत्वात् । प्रतिज्ञाम्- प्रतिज्ञायते इति । प्रति + ज्ञा + 'आतश्चोपसर्गे' इत्यङ्, टाप् । ताम् । कर्तव्यतयोपदेशमार्गमित्यर्थः । भीषणाम् दारुणाम् । यथायुक्ति- युक्तिमनतिक्रम्य वर्तत इति । एवं यथाशास्त्रमपि । संदर्भे प्रबन्धे । विजृम्भिताम् उल्लासिताम् ॥४४॥

ब्रह्मणो रूपं निर्दिशति द्वाभ्याम्—

अयमाकाशभूतादिरूपोऽहमिति लक्षिते ।
जगच्छब्दस्य नामार्थो ननु नास्त्येव कश्चन ॥४५॥
यदिदं दृश्यते किंचिद् दृश्यजातं पुरोगतम् ।
परब्रह्मैव तत्सर्वमजरामरमव्ययम् ॥४६॥

अयमिति । यदिदमिति च । निगदव्याख्यातावेतौ ॥४५-४६॥

पूर्णे पूर्णं प्रसरति शान्ते शान्तं व्यवस्थितम् ।
व्योमन्येवोदितं व्योम ब्रह्मणि ब्रह्म तिष्ठति ॥४७॥

पूर्णे पूर्णमिति । प्रतीचो यद् ब्रह्मैक्यं तत् पूर्णे पूर्णं प्रसरति । व्योमन्येव घटाद्युपाधित्यागाद् व्योम्नेवोदितम् । अतो ब्रह्मण्येव ब्रह्म तिष्ठति- नाणुमात्रमपि तद् विक्रियते । यत्र हि यदध्यासः तत्कृतेन गुणेन दोषेण वा अणुमात्रेणापि स न संबध्यत इति ॥४७॥

भगवन् ! नन्वेवं वन्ध्यातनूजेनापेषि शैलः, शशविषाणेन पलायि दूरं, शिलयानर्ति मुहुरिति व्याहरति रघूत्तंसे स सूनृतवाग् व्याहृत— ॥४८॥

भगवन्निति । अत्र वन्ध्यातनूजेनेत्यादयो दृष्टान्ताः पदार्थवाक्यार्थोभयासंभवप्रदर्शनायोच्यन्ते । सूनृतवाक्– सूनृता प्रिया सत्या च वाग् यस्य सः । प्रामाणिकमूर्धन्यः । व्याहृत व्याहरत् ॥४८॥

मनो दृश्यमयं दोषं तनोतीमं क्षयात्मकम् ।
असदेव सदाकारं स्वप्नः स्वप्नान्तरं यथा ॥४९॥

मनो दृश्यमिति । स्पष्टार्थः ॥४९॥

स्फुरति गच्छति वल्गति याचति
भ्रमति मज्जति संहरति स्वयम् ।
अपरतां परतामपि केवलां
श्रयति चञ्चलशक्तितया मनः ॥५०॥

॥ इति प्रकरणार्थकल्पनम् ॥

स्फुरतीति । मनश्चञ्चलशक्तितया यत् श्रयति तत्रैव स्फुरतीत्यादिभ्रमो विभाव्यते । अपरतां सांसारिकदशाप्रयुक्तमपकर्षम् । परतां कैवल्यलक्षणोत्कर्षम् । श्रयति उपयाति ॥५०॥

॥ इति प्रकरणार्थकल्पनम् ॥

महाप्रलयविस्फूर्तौ दृश्येऽसत्तामुपागते ।
अजोऽव्ययो भासमानः परमात्माऽवशिष्यते ॥५१॥

महाप्रलयेति । महाप्रलयस्य संकल्पप्रलयस्य विस्फूर्तिः विस्फुरणं यत्र । अर्थाज्जगति । असत्तां सूक्ष्मीभावादर्थक्रियाऽसमर्थताम् । परमात्मा महेश्वरः ॥५१॥

यः पुमान् सांख्यदृष्टीनां ब्रह्म वेदान्तवादिनाम् ।
वैज्ञानिकानां विज्ञानं शून्यं शून्यविदामपि ॥५२॥

यः पुमानिति । सर्ववादिनामपि तत्तद्बुद्धिकल्पितैर्विशेषैः स एव सिद्धान्तविषयः– इति सर्वाधिष्ठाने तस्मिन्न कोऽपि विवादः । अतएवेदमुच्यते– 'संज्ञासु केवलमयं विदुषां विवादः' इति ॥५२॥

यतो ब्रह्मादयो देवाः सूर्यादिव मरीचयः ॥
यतश्च दृश्यबिब्बोकाः समुद्रादिव बुद्बुदाः ॥५३॥

यतो ब्रह्मे ति। देवाः—दीव्यन्तीति देवाः। पचाद्यच्। प्रकाशप्राधान्यान्मरीचय इव। तथा च स्मर्यते—

'दीव्यति क्रीडते यस्माद् रोचते द्योतते दिवि।
तस्माद् देव इति प्रोक्तः स्तूयते सर्वदैवतैः ॥' इति॥

दृश्यबिब्बोकाः दृश्यविभ्रमाः। समुद्राद् बुद्बुदा इव। अचेतनजगन्ति बुद्बुदानीव जायन्ते ॥५३॥

योऽधोमध्योर्ध्वलोकेषु सममेव विकासवान् ॥
संपद्यन्ते विपद्यन्ते यत्र विश्वे घना इव ॥५४॥

योऽधोमध्येति। स्पष्टार्थः ॥५४॥

यः प्लावयति संरब्धं पुर्यष्टकमितस्ततः ॥
येन निश्चेष्टिताकाराः शिलायोगमिवागताः ॥५५॥

यः प्लावयतीति। संरब्धं स्वस्वव्यापारेषूद्युक्तम्। पुर्यष्टकम्—कर्मेन्द्रियाणि, ज्ञानेन्द्रियाणि भूतसूक्ष्माणि, प्राणाः, अविद्या कामकर्मान्तःकरणमिति संभूयोच्यते। इतस्ततः अन्तर्बहिश्च स्वचिद्व्याप्त्या—प्लावयति प्लावनं विधत्ते। प्लव प्लवने। ण्यन्तात् कर्तरि लट्। चेतनानां चेतनता यत्प्रयुक्तेत्यर्थः। निश्चेष्टिताकाराः अचेतनान्यपि वैचित्र्यभाञ्जि शिलायोगमिव शिलाध्यानमिव आगताः आस्थिताः ॥५५॥

प्रकृतिव्रतती व्योम्नि रूढा ब्रह्माण्डसत्फला ॥
चित्तमूलेन्द्रियदला येन नृत्यति वायुना ॥५६॥
(इति मूलकारणदेवस्वरूपम्)

प्रकृतिव्रततीति। प्रकृतिः माया सैव व्रततिर्लता। व्योम्नि शुद्धायां चिति। रूढा संजाता। चित्तमूलदला—चित्तमूलं चित्तकारणकम् इन्द्रियदलम् इन्द्रियाण्येव दलानि पत्राणि यस्यां सा। येन ईश्वरेण। अन्यत् स्पष्टम् ॥५६॥
(इति मूलकारणदेवस्वरूपम्)

नह्येष दूरे नाभ्यांशे नालभ्यो विषमेऽपि न ॥
स्वानन्दाभासरूपोऽसौ स्वदेहादेव लभ्यते ॥५७॥

नह्येष इति । अभ्याशे अन्तिके नातिदूरे नाति संनिहिते क्रियामन्तरेण अलभ्ये विषमादिस्थे च फले क्रिया सफला स्यात्, आत्मा तु नतथेति पूर्वार्धस्याशयः । स्वानन्दा.......लभ्यते–विस्मृतकण्ठस्वर्णाभरणवज्ज्ञानलभ्यतात्वस्य सुलभेति तात्पर्यम ॥५७॥

अयं स देव इत्येव संपरिज्ञानयोगतः ॥
जन्तुर्न लभते दुःखं जीवन्मुक्तत्वमेत्यपि ॥५८॥

अयं सदेवेति । संपरिज्ञानयोगतः—संपरिज्ञानं स्वात्मानुभवः तद्योगतः ॥५८॥

स्वपौरुषप्रयत्नेन विवेकेन विकासिना ॥
स देवो ज्ञायते राम ! न तपोदानकर्मभिः ॥५९॥

स्वपौरुषेति । श्रवणमननादिरूपात् स्वपौरुषादतिरिक्तं नान्यत् साधनान्तरम् ईश्वरपरिचयमुद्भावयतीति भावः ॥५९॥

रागद्वेषतमःक्रोधमदमात्सर्यवर्जनम् ॥
विना तपो वा दानं वा क्लेश एव न वास्तवम् ॥६०॥

रागद्वेषेति । न वास्तवं साधनमिति शेषः ॥६०॥

रागाद्युपहते चित्ते वञ्चयित्वा परं धनम् ॥
यदर्ज्यते तस्य दानं तपो वा तच्च निष्फलम् ॥६१॥

रागादीति । रागाद्युपहते रागादिना कलुषिते । सति रागादौ धनार्जने परवञ्चनाद्यवश्यंभावाच् चित्तशुद्धेरेव दुर्लभत्वाद् दानादेः काम्यं फलमपि दुर्लभम् । दूरे ततो ज्ञानमोक्षप्रत्याशा ॥६१॥

शृणु तत् पौरुषं कीदृगात्मज्ञानस्य लब्धये ॥
येन शाम्यत्यशेषेण रागद्वेषविषूचिका ॥६२॥

शृणु तदिति । स्पष्टार्थः ॥६२॥

अक्लेशवृत्त्या वृत्त्या वा लोकशास्त्राविरुद्धया ॥
संतोषैश्वर्यसंपन्नो भोगगन्धं परित्यजेत् ॥६३॥

अक्लेशेति । वृत्त्या जीवनसाधनसंपत्त्या । लोकशास्त्राभ्याम् अविरुद्धया संमतया । भोगगन्धं भोगवासनाम् । तदभिनिवेशमिति यावत् ॥६३॥

यथाप्राप्तार्थसंतुष्टो यो गर्हितमुपेक्षते ॥
साधुसंगमसच्छास्त्रसेवी सद्यः स मुच्यते ॥६४॥

यथाप्राप्तेति । अर्थसंतुष्टः वित्तैषणाशून्यः । गर्हितं शास्त्रं, शिष्टेषु निन्दितम् । सद्यः तत्क्षणम्–शीघ्रं वा ॥६४॥

विचारेण परिज्ञातस्वभावस्य महामतेः ॥
अनुकम्प्या भवन्त्येते ब्रह्मेन्द्रोपेन्द्रशंकराः ॥६५॥
(इति मुमुक्षुप्रयत्नोपदेशः)

विचारेणेति । परिज्ञातस्वभावस्य—परिज्ञातः परिशीलितः स्वभावः आत्मतत्त्वं येन–तस्य । अनुकम्प्याः कृपाभाजः । उपेन्द्रो विष्णुः ॥६५॥
(इति मुमुक्षुप्रयत्नोपदेशः)

एष सर्वमिदं विश्वं न विश्वं चैष सर्वगः ॥
एष एको महान् देवो नहि विश्वाभिधास्ति दृक् ॥६६॥

एषेति । अस्य सर्वाधिष्ठानभावेन सर्वगतत्वमिति प्रतिपादनाय विश्वात्मत्वोक्तिरिति भावः ॥६६॥

चेतनं राम ! संसारो जीव एष पशुः स्मृतः ॥
अत उज्जिहते स्फारा जरामरणभीतयः ॥६७॥

चेतनमिति । चेतनम्—चेतयते चेतति वेति व्युत्पत्तिः । 'नन्दिग्रहि–' (पा० सू० ३।१।१३) इति कर्तरि ल्युः । वाङ्मनःप्राणकरणग्रामानुप्रविष्टं ब्रह्मैव जीवः । स च बहिर्मुखतया विषयानेव सारतया पश्यन् पशुरित्युच्यते । अतः अस्मादेव देहेन्द्रियविषयग्रामनानुसारात् तत्तद्देहपरिग्रहे स्फाराः जरामरणभीतयः उज्जिहते । उत्पूर्वाद् 'ओहाङ् गतौ' इत्यतः कर्तरि लट् । अन्तः स्थिताः आविर्भवन्ति ॥६७॥

स्थूल शरीरातिरिक्ततया तज्ज्ञानादेव जरामरणादिप्रत्ययः सिद्धः—'अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः' इति श्रवणाद् इत्याशङ्कां परिहरति—

पशुरज्ञो ह्यमूर्तोऽपि दुःखस्यैवैष भाजनम् ॥
चेतनत्वाच्चेतनीयं मनोऽनर्थः स्वयं स्थितः ॥६८॥

पशुरिति । सर्वमविशेषेण पश्यतीति पशुः । अमूर्तस्थूलदेहशून्योऽप्यसौ न कृतार्थः । यतः अज्ञः अज्ञानवान् । चेतनीयं यन्मनः तद्रूपोऽनर्थश्च स्वयं भूत्वा स्थितः । अतो दुःखभाजनमेवैतत् । अशरीरमित्यादिश्रुत्यर्थस्तु स्थूल-सूक्ष्म-कारण-देहत्रयरहितं प्रियाप्रिये न स्पृशतः—इत्येवंतात्पर्यकः न तु स्थूलदेहमात्र-परः । तथात्वेऽपि स्वप्ने प्रियाप्रियदर्शनादिति भावः ॥६८॥

चेत्यनिर्मुक्तता या स्यादचेत्योन्मुखताऽथवा ॥
सा चास्य भरितावस्था तां ज्ञात्वा नानुशोचति ॥६९॥

चेत्यनिर्मुक्तेति । मुक्तौ चेत्यनिर्मुक्तैव प्रयोजिका । अचेत्योन्मुखता तु समाधौ-प्रसिद्धा । इयमेवास्य भरितावस्था मुक्तावस्थेति ॥६९॥

अत्रार्थे श्रुतिं प्रमाणयति—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ॥
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥७०॥

भिद्यत इति । मूलाज्ञाननाशात् तत्कार्य—अन्तःकरणतादात्म्याध्यास-लक्षणो हृदयग्रन्थिः भिद्यते नश्यति । तन्नाशादेव तन्मूलकाः संशयादयोऽपि नश्यन्तीत्यर्थः । परावरे—परं कारणमपि अवरं यस्मात् तत्—तथाविधे । कर्माणि-सुखदुःखस्वभावानि । क्षीयन्ते समूलघातं विलीयन्ते ॥७०॥

एवं तर्हि चित्तनिरोधलक्षणयोगेनैव चेत्योन्मुखत्वस्य रोद्धुं शक्यत्वा-ज्ज्ञानप्रयासो निरर्थकस्तत्राह—

तस्य चेत्योन्मुखत्वं तु चेत्यासंभवमन्तरा ॥
रोद्धुं न पार्यते दृश्यं चेत्यं विरमते कथम् ॥७१॥

तस्येति । चेत्यस्य दृश्यस्य असंभवज्ञानेन मूलतो बाधम् । चेत्यं कथं वै शाम्यति विना ज्ञानमिति शेषः । तदित्थं ज्ञानमन्तरा तादृशस्वरूपसमाधि-रेव न सिध्यतीत्यर्थः ॥७१॥

यदेतच्चेतनं जीवो विशीर्णो जन्मजङ्गले ॥
उशन्त्यात्मानमेतं ये ते मन्दाः कोविदा अपि ॥२७॥

यदेतदिति । जन्मजङ्गले जन्मवने । जन्मग्रहणं शरीरसङ्गोपलक्षणार्थम् । शीर्णः गलितः । उशन्ति इच्छन्ति । वश कान्तौ । कान्तिरिच्छा । कर्तरि द् ॥७२॥

जीव एव हि संसारश्चेतना दुःखसंततिः ॥
ज्ञातेऽस्मिन् नापि विज्ञातं किंचिद् भवति सुव्रत ! ॥७३॥

ज्ञायते परमात्मा चेत् सर्वा दुःखस्य संततिः ॥
प्रणश्यति विषावेशशान्ताविव विषूचिका ॥७४॥

जीवेति । ज्ञायत इति च । द्वावपि स्पष्टार्थौ ॥७४॥

द्रष्टृदृश्यक्रमो यत्र स्थितोऽप्यस्तमयं गतः ॥
यदनाकाशमाकाशं तद्रूपं परमात्मनः ॥७५॥

द्रष्टृदृश्येति । अनाकाशमाकाशम्—आकाशबाधेऽप्यपरिच्छिन्नत्वेनविपुलत्वादाकाशम् ॥७५॥

अशून्यमिव यच्छून्यं यस्मिञ्शून्यं जगत्स्थितम् ॥
सर्गौघे सति यच्छून्यं तद्रूपं ब्रह्मणो विदुः ॥७६॥

अशून्यमिवेति । जगत् स्वभावशून्यमपि यत् सर्ववस्तुयाथात्म्यभूतस्वरूपेण पूर्णत्वाद् अणुमात्रेणापि अशून्यमिव शून्यम् असदपि जगत् स्थितम् । सद्भावमापन्नमित्यर्थः । सर्गौघे—सर्गलक्षणा ओघा यस्य तथाविधे अज्ञाने सति यत्सदपि अनुपयोगाच्छून्यमिव शून्यम् ॥७६॥

तज्ज्ञातमात्मनो रूपं भवेन्नान्येन वर्त्मना ॥
जगन्नाम्नोऽस्य दृश्यस्य स्वसत्तासंभवं विना ॥७७॥

(इति जगदादिदृश्यासत्ताप्रतिज्ञा)

तज्ज्ञातमिति । स्वसत्तासंभवं मिथ्यात्वं तन्निश्चयमिति यावत् ॥७७॥

(इति जगदादिदृश्यासत्ताप्रतिज्ञा)

स्थितमेवास्तमायाति जगद्दृश्यं विचारणात् ॥
यथा स्वप्नागमे स्वप्ने ज्ञाते सत्यत्वभावनम् ॥७८॥

स्थितमिति । यथा स्वप्नादौ स्थिते एवं स्वप्नोऽयमिति परिज्ञाने स्वप्न-सत्यत्वभावना अस्तमेति तद्वत् ॥७८॥

तदिदं ज्ञायते ह्यस्मिञ्ज्ञानकोशेऽवधारिते ॥
तज्जीवन्मुक्तिसाम्राज्यसौख्यं यत्रानुभूयते ॥७९॥

तदिदमिति । विनेयानामभिमुखीकरणार्थं प्ररोचनावाक्यमिवेदं ब्रह्म-विषयकज्ञानप्रशंसापरम् ॥७९॥

बोधैकनिष्ठतां यातो जाग्रत्येव सुषुप्तवत् ॥
य आस्ते व्यवहर्तैव स जीवन्मुक्त उच्यते ॥८०॥

बोधैकनिष्ठतेति । यो व्यवहर्ता सन्नपि–'नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' इति भगवदुक्तदिशा जाग्रत्यपि सुप्तवन्निर्विकार आस्ते स जीवन्मुक्तः ॥८०॥

यस्य नाहंकृतो भावो यस्य बुद्धिर्न लिप्यते ॥
कुर्वतोऽकुर्वतो वापि सजीवन्मुक्त उच्यते ॥८१॥

यस्य नाहमिति । न लिप्यते कर्तृत्वाकर्तृत्वाभिमानाभ्यामित्यर्थः ॥८१॥

जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा काये कालनिमीलिते ॥
विदेहमुक्ततामेति मरुदस्पन्दतामिव ॥८२॥

जीवन्मुक्तेति । कालेन निमीलिते ग्रस्ते प्रारब्धक्षये सतीति यावत् । विदेह मुक्तता मुक्तिविशेषः । विदेहाद् देहविगमाद् या शुद्धा मुक्तता सा । तथाच—

'ततः कालवशादेव प्रारब्धे तु क्षयं गते ।
वैदेहीं मामकीं मुक्तिं याति नास्त्यत्र संशयः ॥' इति ।
मरुत् पवनः । अस्पन्दताम् निश्चलताम् ॥८२॥

यतः कालस्य कलना यतो दृश्यस्य दृश्यता ॥
मानसी कल्पना येन यस्य भासा विभासनम् ॥८३॥

क्रियां रूपं रसं गन्धं शब्दं स्पर्शं च चेतनम् ॥
यद् वेत्सि तदसौ देवो येन वेत्सि तदप्यसौ ॥८४॥ (युग्मकम्)

(इति परमकारणदर्शनम्)

यत इति क्रियामितिच । कालस्य कलनाः षड्भावविकाराः । दृश्यस्य दृश्यता, दर्शनफलव्याप्तिः । मानसी कल्पना इष्टानिष्टपरिहारविषया मनोरथ-विकल्पाः । येन निमित्तेन । क्रमाद् यदीयसच्चिदानन्दरूपता निर्वाह्या इति यावत् । तच्च त्रयम् यस्य भासा जगद्विभासनमेव नान्यत् । अयं भावः—अज्ञात-साधारणी सर्वव्याप्तिः सत्ता । अनावृतमात्रव्याप्तिः दर्शनम् । तत्र अनुकूल-वेदनीयमात्रव्याप्तिः आनन्दता इत्यवान्तरे औपाधिकवैलक्षण्ये सत्यपि भारूप-व्याप्तेरेकरूपत्वात् ।

देहकर्मेन्द्रियोपाधौ क्रियां, ज्ञानेन्द्रियोपाधौ रूपादि, अन्तःकरणोपाधौ चेतनं प्रमातारं च यत्स्वरूपः सन् वेत्सि तत् प्रमातृनिष्कृष्टचिद्रूपमसौ । येन विषयव्याप्तवृत्तिनिष्कृष्टचिद्रूपेण वेत्सि तदप्यसौ देव इत्याशयः ॥८३–८४॥

(इति परमकारणदर्शनम्)

नाशयित्वा स्वमात्मानं मनसो वृत्तिसंक्षये ॥
सद्रूपं यदनाख्येयं तद्रूपं तस्य वस्तुनः ॥८५॥

नाशयित्वेति । यथा समाधौ निरोधेन वृत्तिसंक्षये सति निरिन्धनाग्निवन् मनसः स्वमात्मानं मनःस्वरूपमपि नाशयित्वा यद् अनाख्येयं स्वप्रकाशसद्रूपम् अवशिष्यते तद् इत्यर्थः ॥८५॥

नास्ति दृश्यं जगद् द्रष्टा दृश्याभावाद् विलीनवत् ॥
भातीति भासनं यत् स्यात् तद् रूपं परमात्मनः ॥८६॥

नास्ति दृश्यमिति । निर्विकल्पकस्य समाधेः प्रारम्भे दृश्याभावाद् द्रष्टा प्रमातापि विलीनवद् भाति इति त्रिपुटीलयभासनं सोऽस्मिरूपं तदित्यर्थः ॥८६॥

चित्प्रकाशस्य यन्मध्यं प्रकाशस्यापि खस्य वा ॥
दर्शनस्य च यन्मध्यं तद् रूपं ब्रह्मणो मतम् ॥८७॥

चित्प्रकाशेति । यद् द्रष्टुः कोटौ अन्नमयान्ते आत्मतया प्रसृतस्य चित्प्रकाशस्य एकैककोशविवेकेन पर्यालोच्यमानस्य आनन्दमयकोशस्यापि आन्तरत्वान् मध्यम्, दृश्यकोटौ च मूर्तप्रपञ्चसारभूतस्य आदित्यात्मकप्रकाशस्य अमूर्तप्रपञ्चसारभूतस्य खस्य, आकाशलिङ्गसमष्ट्यात्मनः अव्याकृताकाशस्य वा आन्तरत्वाद् यन्मध्यं दर्शनस्य चाक्षुषादिवृत्तिरूपस्य च अन्तः स्फुरणरूपत्वाद्

यन्मध्यम्, यथाक्रमम् आनन्दसच्चिद्रूपं प्रसिद्धं तद् ब्रह्मणो रूपमित्यर्थः। तथाच तैत्तिरीयाणामुपनिषदि अन्नमयादीनां कोशानाम् आन्तरम् आनन्दमयकोशं प्रदर्श्य—'तस्य प्रियमेव शिरः—मोदो दक्षिणः पक्षः प्रमोद उत्तरः पक्षः, आनन्द आत्मा, ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेति' तस्याप्यान्तरं ब्रह्म दर्शितम्। बृहदारण्यके च—'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं चेति' प्रस्तुत्य—'तस्य मूर्तस्यैष रसो य एष तपति, तस्यैतस्यामूर्तस्यैष रसो य एतस्मिन् मण्डले पुरुष' इति प्रदर्श्य—'अथात आदेशो नेति नेतीति मूर्तामूर्तारोपाधिष्ठानं तदन्तरं ब्रह्म तन्निषेधेन दर्शितम्। 'प्रतिबोधविदितं मतम्' इति तवलकाराणामुपनिषदि ब्रह्मणः सर्वबुद्धिवृत्त्या आन्तरत्वमुक्तम् ॥८७॥

यतो जगदुदेतीव नित्यानुदितरूप्यपि ॥
विभिन्नवदिवाभिन्नं तद्रूपं परमार्थकम् ॥८८॥

(इति कल्पान्तावशिष्टपरमभावदर्शनम्)

यतो जगदुदेतीति। परमार्थकं वास्तविकम्। अन्यत् पूर्वमवोचामेति नेरु पुनरायस्यते ॥८८॥

(इति कल्पान्तावशिष्टपरभावदर्शनम्)

तुल्यस्यातुलभावस्य भावकैः किल तोलनम् ॥
अनन्वया यथैवोक्तिर्जगत्सत्ता तथैव हि ॥८९॥

तुल्यस्येति। तुल्यस्य उपमातुम् इष्टस्य, दृश्यस्य, उपमेयवहिर्भूततुलायाः अलाभेन, उपमातुमशक्यस्य भावस्य, उपमेयकोटिप्रविष्टैः भावकैः यत तोलनम् उपमावचनं तद् अनन्वयालंकारोदाहरणभूता यथा उक्तिस्तथैव। यथा—गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः।' इत्युक्तिरनुपमत्वे पर्यवस्यति, तथैव स्यात्-इति न विकल्पकल्पनादृष्टान्तः। अतो जगतः पृथक्सत्ता तथैव यथा वन्ध्यापुत्रसत्तेति। असतः सद्दृष्टान्तादर्शनेऽपि असद्दृष्टान्तता न विरुध्यते। वन्ध्यापुत्र इव खपुष्पमसदित्युक्तिदर्शनात् ॥८९॥

आकाशे च यथा नास्ति शून्यत्वं व्यतिरेकवत् ॥
जगत्त्वं ब्रह्मणि तथा स्थूलं सोपलब्धिमत् ॥९०॥

आकाश इति। व्यतिरेको भेदस्तद्वत्। उपलब्धिमद् उपलभ्यमानमपि ॥९०॥

यथा पुरमिवास्त्यन्तर्निद्रेव स्वप्नसंविदः ॥
तथा जगदिवाभाति स्वात्मैव परमात्मनि ॥६१॥

(इति परमार्थदर्शनम्)

यथा पुरमिति । स्वप्नसंविदः स्वप्नद्रष्टुरन्तर्गता चित् चैतन्यमेव पुरमिव यथा आभाति तथा परमात्मनि स्वात्मैव, जगदिव जगदाकारेण, आभाति आभासते ॥६१॥

(इति परमार्थदर्शनम्)

ब्रह्मैव सर्गवद् भाति सुषुप्तं स्वप्नवद् यथा ॥
सर्वात्मकं च तत्स्थानं तत्र राम ! क्रमं शृणु ॥६२॥

ब्रह्मैवेति । यथा प्रतिपुरुषं सुषुप्त्यात्मरूपमेव स्वप्नवद् विवर्तते तथा ब्रह्मापीति दृष्टान्तानुसारिणीयं कल्पनेत्यर्थः । सर्वात्मकत्वं च—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' इति श्रुतौ सर्ववाचि, इदंपदसामानाधिकरण्यात् । तत्स्थानं सर्वसुषुप्तसमष्टिप्रलयावस्थं ब्रह्मेति ॥६२॥

तस्य खलु परप्रकाशस्य सत्तामात्रात्मकं यद् विश्वं तदात्मनि संविदा अगृहीतात्मकमहंमर्शनपूर्वकं भविष्यन्नामार्थकलनाभ्यूहितरूपकं स्वयमेव किंचिच्चेत्यतामिवोपयाति । तदनु सा परसत्तैव सच्चेतश्चेतनोन्मुखीचिन्नामयोग्या जायते । तदनु सान्द्रसंवेदना कलितकलनीया परं पदं त्यजन्ती जीवादिसंज्ञिता भावनामात्रसारा संसरणपरायणा वस्तुस्वभावेन सत्तामनूत्तिष्ठति । तदन्वाकाशसत्ताद्योघः ॥६३॥

तस्य खल्वित्यादि । परप्रकाशस्य अनन्तप्रकाशात्मरूपस्य । सत्तामात्रात्मकम्—सत्तामात्रं आत्मा परमार्थरूपं यस्य तथाविधं संविदा अहंमर्शनपूर्वकम् अगृहीतात्मकं अहंकाराध्यासं विना, भविष्यन्नामार्थकलनाभ्यूहितरूपकं सर्वस्मिन् सृज्यविषये भावि नामरूपसंधानैः अभ्यूहितानि रूपाणि यस्मिन् तथाविधं सत् चेत्यतामिव गच्छति । तदनु'''सत्तामनूत्तिष्ठतीत्यादि—ईक्षणवृत्ति तद्विषयोपाधिभ्याम् ईश्वरजीवभावयोः प्रदर्शनम् । परसत्ता ब्रह्मसत्ता । चेतः ईक्षणात्मिका वृत्तिः तत्सहिता चेतना, तदभिव्यक्तचैत-

न्यम् , तदुन्मुखी तत्प्रधाना सती। चिन्नामयोग्या, चेतयतीति चित् सर्वज्ञेश्वरः तन्नामयोग्या। वाक्प्रवृत्तिलभ्येति यावत्। जायते भवति। तदनु समनन्तरमेव। सान्द्रसंवेदना चिरानुवृत्या सान्द्रा घनीभूता संवेदना ईक्षणसंवेदना यस्याः तथाविधा सती। कलितकलनीया—कलितेन आत्तेन गृहीतेन वा तद्विषयकसूक्ष्म-प्रपञ्चात्मभावलक्षणपरिच्छेदेन न कलनीया। अतएव परं पदं त्यजन्ती अपरि-च्छिन्नभूमात्मभावं विस्मरणेनोज्झती। जीवादिसंज्ञिता भाविप्राणधारणोपाधिक-जीव—हिरण्यगर्भादिनामिका। संसरणपरायणा संसरणोन्मुखी। भावना-मात्रसारा—न विकारादिक्रियासारेत्यर्थः। वस्तुस्वभावेन तामिमां सत्तामेवा-नुसृत्य रज्जौ सर्प इव जीवभाव उत्तिष्ठति। तदनु समनन्तरमेव। अस्या जीवसत्ताया आकाशसत्ताद्योघः प्रवाहः। इतरभूतावकाशदत्वाच्छून्यताप्राया उदेति। सूर्यादिसर्गोत्तरं भविष्यन्तीनां आकाशाद्यभिधानाम् आ समन्तात् काशते इत्याद्यर्थदा ॥६३॥

इत्थंच यदुक्तं ब्रह्मैव जगदाकारं भवतीति तत् सिद्धमित्याह—

बीजं जगत्सु ननु पञ्चकमात्रमेव
बीजं पराव्यवहितस्थितिशक्तिराद्या ॥
बीजं तदेव भवतीति सदानुभूतं
चिन्मात्रमेवमजमाद्यमतो जगच्छ्रीः ॥६४॥

(इति जगदुत्पत्तिदर्शनम्)

बीजं जगत्स्विति। जगतः तन्मात्रपञ्चकं बीजं कारणम्। तस्य च बीजं परेण परमात्मना अव्यवहिता साक्षात् संबद्धा जगत्स्थितिहेतुर्मायाशक्तिरेव। इत्थं च तत् परमात्मतत्त्वमेव मायाशक्त्या बीजं भव-मायापगमे तदेव भवतीति प्रतिज्ञातार्थसिद्धिरित्यर्थः ॥६४॥

(इति जगदुत्पत्तिदर्शनम)

प्रलये सुषुप्ताविव विलयेन मायाशबलब्रह्मभावं प्राप्तानां जीवोपाधीनां पुनराविर्भावक्रमं पञ्चभिः सहेतुकमुपन्यस्यति—

परमे ब्रह्मणि स्फारे समे राम! समस्थिते ॥
अनुद्भूतनभस्तेजस्तमःसत्ते चिदात्मनि ॥६५॥

परम इति । विकारकृतवैषम्यशून्यमायाशबलत्वात् समे । समस्थिते समे चाधिष्ठानस्थिते । अनुद्भूतानां नभस्तेजस्तम आदीनां या कारणात्मना सत्ता तद्रूपे चिदात्मनि ॥६५॥

चितश्चेतयितृभावलक्षणजीवत्वस्य विषयकरणसिद्धिपूर्वकत्वात् तदध्यासं प्रथमं दर्शयति—

पूर्वं चेत्यत्वकलनं सतश्चेत्यांशचेतनात् ॥
उदेति चित्तकलनं चिति शक्तित्वचेतनात् ॥६६॥

पूर्वमिति । कलनं कल्पनम् । तत्र हेतुः सद्वस्तुनः तत्प्रथास्वभावतैव । एवमुत्तरत्रापि । यदेवाध्यस्यते तत्प्रथास्वभावतायाः चितिपूर्वसिद्धत्वात् सर्वत्र निमित्तता ॥६६॥

ततो जीवत्वकलनं चेत्यसंयोगचेतनात् ॥
ततोऽहंभावकलनं चेत्यैकपरतावशात् ॥६७॥

ततो जीवत्वेति । एकपरता तावन्मात्रोऽहमित्यभिमानः ॥६७॥

ततो बुद्धित्वकलनमहंतापरिणामनात् ॥
एतदेव मनस्त्वादि शब्दतन्मात्रकादिमत् ॥६८॥

ततो बुद्धित्वेति । अहंतापरिणामनात् अहंतोपचयतः । इत्थं धर्मसिद्धौ शब्दादिविषयमात्राणां वासनात्मना स्वान्तर्गतानां स्वप्न इव मननात् तद्वदितं मनोरूपं एतदेव संपद्यत इत्यर्थः ॥६८॥

तस्य स्थूलदेहभावापत्तिम् आह—

उच्छूनादन्यतन्मात्रभावनाद् भूतरूपिणः ॥
अयमेवं महागुल्मो जगदादिर्विभाव्यते ॥६९॥

उच्छूनादिति । वासनात्मनां शब्दतन्मात्राणाम् अन्यैः स्पर्शादितन्मात्रैः भावनात् मेलनात् पञ्चीकृतभावेनोच्छूनाद् आध्यात्मिकमहाभूतरूपिणः स्थूल-देहभावापन्नान्मनस इति यावत् । महागुल्मः प्रकाण्डरहितो महाद्रुमः ॥६९॥

जगतः पञ्चकं बीजं पञ्चकस्य चिदव्यया ॥
यद् बीजं तत् फलं विद्धि तस्माद् ब्रह्ममयं जगत् ॥१००॥

जगत इति । पञ्चकं तन्मात्राणाम् । विद्धि जानीहि ॥१००॥

इत्थमेतत् पञ्चकं महाकाशे सर्गादौ चिच्छक्त्या स्वाङ्गभूतात्मेव कल्प्यते न पुनः पारमार्थिकम् । अनेन यदपीदं जगदुच्छूनतां प्रतिपद्य वितन्यते तदप्यात्मन्याकाशात्मकं सन्मयमेव । नहि क्वापि तत्सिद्धं नाम मन्यते यदसिद्धं न साध्यते । यच्च तावद्विकल्पात्मकं स्वरूपं तत्खलु कथं सत्यतामियात् । अथ चेत् पञ्चकं ब्रह्मात्मकधिया ब्रह्मास्ते तदा प्ररूढं जगदपि ब्रह्मैव । यथा खलु सर्गादाविदं पञ्चकं कार्यभूतत्वे कारणतामुपगतं तथैवेदानीमपीति किं चित्रम् । इत्थंहि न जायते किंचिज्जगज्जालं नवा लक्ष्यते, संकल्पपुरमिवासदेव ब्रह्माकाशे स्वात्मनि जीवाकाशत्वं सदिव प्रतीयते । जीवाकाशोऽसौ स्वमेव तस्मिन् परमेश्वरेऽणुतेजःकणोऽस्मीति यत्स्वयं चेतति तदेवोच्छूनमिव विभावयति—॥१०१॥

इत्थमेतदिति । चिच्छक्त्या चेतनप्रथनशक्त्या । स्वाङ्गभूतात्मा इव स्वशरीरमिव संपन्नस्वरूपः । एतत् पञ्चकं तन्मात्रपञ्चकं कल्प्यते । अनेन पञ्चकगणेन यदपीदं स्थूलं जगद् वितन्यते विस्तार्यते । आत्मनि आकाशरूपमिव स्वकल्पनाधिष्ठानात्मनि स्थितत्वात् सन्मयम्—न स्वत इत्यर्थः । पञ्चकं तत्कार्यस्थूलभूतपञ्चकमपि चिद् ब्रह्मैव । कारणकार्ययोरेकत्वप्रसिद्धेर्हेतोरित्यर्थः । प्ररूढं जगत् त्रिजगत्क्रमः ब्रह्मैवेति सिद्धम् । भूतत्वे पौर्वकालिकत्वे स्वयम् औत्तरकालिकं स्वं प्रत्येवेति शेषः । किं चित्रम्—को विस्मयः । जगज्जातम् । ब्रह्माकाशे महाकाशरूपे परमप्रकाशे आत्मनि जीवाकाशं सदिव असत्सदिव प्रतीयते अनुभूयते । जीवाकाशः समष्टिजीवाकाशः—तस्मिन् परमेश्वरे कल्पितः । विस्तृतमपि स्वम्, अणुतेजःकणः—अणुः अल्पतरः स्फुलिङ्गवत् तेजः कणोऽस्मीति चिन्तया तथैवात्मानं चेतति अनुभवति । एतदेवाभिप्रेत्य श्रूयते-'यथा अग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे एत आत्मानो व्युच्चरन्तीति' इति ॥१०१॥

असदेव सदाकारं जीवः संकल्पचन्द्रवत् ॥
चिन्तया चिन्तयन् द्रष्टृदृश्यरूपतया स्थितः ॥१०२॥

एक एक द्वितां गच्छन् स्वप्ने स्वमृतिबोधवत् ॥
किंचित्स्थौल्यमिवादत्ते ततस्तारकतां विदन् ॥१०३॥ (युग्मकम्)

असदेवेति । एक एवेति च । जीवः यद् भावयति तत् संकल्पचन्द्रवत् संकल्पेन्दुर्यथा न सत् तथा असदेवेत्यर्थः । द्रष्टृत्वदृश्यभावसंवलनेन तस्योपचयं दर्शयति–किंचिदिति । अणुतेजः कणभावमपहाय तारकतां तारकसादृश्यं विदन् जानानः । किंचित् स्थौल्यम् आदत्त इव । अयमेवास्य भूतमात्रासंवलितलिङ्गात्मभावः १०२–१०३॥

अन्तर्भाति बहिष्ठोऽपि पर्वतो मुकुरे यथा ॥
स्वरूपतारकान्तस्थो जीवोऽयं चेतयन् स्वयम् ॥१०४॥

अन्तर्भातीति । स्वप्नसंकल्पयोर्बहिष्ठोऽपि विषयः तद्बाह्यरूपं परित्यज्यैव अन्तर्भाति । यथा मुकुरे दर्पणे पर्वतः कूपजलप्रतिबिम्बितो देहः, यथा वा गुहादिसंपुटगत प्रतिध्वनि वचः । तथा स्वरूपतया कल्पिततारकान्तस्थः वासनामयदेहादिव्यवहारं चेततीत्यर्थः ॥१०४॥

एवमुच्छूनतां तस्मिन् भावयत् तेजसा कणे ॥
असत्यां सत्यसंकाशां ब्रह्मास्ते जीववाच्यवत् ॥१०५॥

एवमुच्छूनतामिति । भावयत् अभ्यस्यत् । ब्रह्म आस्ते । अन्यत सुगमम् ॥१०५॥

इत्थं स जीवशब्दार्थः कल्पनाक्लृप्तिकोविदः ॥
आतिवाहिकदेहात्मा चित्तरूपाम्बराकृतिः ॥१०६॥
भाविब्रह्माण्डकलनां पश्यत्यनुभवत्यपि ॥
तदेतदनृतामानं स्वप्ने खोड्डयनं यथा ॥१०७॥ (युग्मकम्)

इत्थमिति । भावीति च । चित्तरूपाम्बराकृतिः चित्तरूपमम्बरमेव स्थौल्येन स्थूलदेहाकृतिः यस्य सः । स्फुलिङ्गाकारादिबाह्यविषयान्तस्वकल्पनाकारं ब्रह्म तदन्ते संस्थ आवरणादिसंस्थायुक्तम् अण्डं ब्रह्माण्डं पश्यतीत्यर्थः । खोड्डयनं व्योम्नि उत्पतनम् ॥१०६॥—१०७॥

इत्यनुत्पन्न एवासौ स्वयंभूः स्वयमुत्थितः ॥
संकल्पनगरप्रख्यं जगत् सदपि नैव सत् ॥१०८॥

इत्यनुत्पन्नेति । अनेन जगतः परमार्थरूपं सिद्धान्तितम् ॥१०८॥

अकृतं चानुभूतं च न सत्यं सत्यवत् स्थितम् ॥
महाकल्पे विमुक्तत्वाद् ब्रह्मादीनामसंशयम् ॥१०९॥

अकृतमिति । महाकल्पान्ते प्राक्तनानां ब्रह्मादीनां मुक्तत्वावधारणान्न तदीयादृष्टसंस्कारेण अग्रिमजगन्निर्माणम् । यस्तु ग्रासकः कल्पादौ हिरण्यगर्भादिपदं लभते न तेन कदापि प्राग् विचित्रं जगत् सृष्टमिति अनुभवाभावे तत्संस्कारासंभवाज्जगतो न संस्कारजत्वमिति । तथा च स्वप्नेन्द्रजालवद् अकस्मादेव अविद्ययैवोद्भूतत्वान्मिथ्यात्वमेव सिध्यति । एतेन नादृष्टसंस्कारसामग्रीजन्यं जगद् भवितुमर्हतीति सिद्धान्त उन्मीलितः । ब्रह्मादीनां मुक्तिस्तु— 'यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्' (ब्र० सू० ३।३।३२) इति वेदान्तसूत्रे स्पष्टतया प्रतिपादिता । स्मृतावपि—

'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे ।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥' इति ॥१०९॥

सिंहावलोकनन्यायेन प्रागुक्तं सर्वमनुसंधायोपसंहरति—

आकाश एव परमे प्रथमः प्रजेशो
नित्यं स्वयं स्फुरति शून्यतया समो यः ॥
स ह्यातिवाहिकतनुर्न तु भूतरूपो
भूम्यादि तेन न सदस्ति यथा न जातम् ॥११०॥

(इति स्वयंभूत्पत्तिदर्शनम्)

आकाश एवेति । परमे, ब्रह्मणि, प्रजेशः स्वयंभूराकाशः शून्यमेव । यः समः परमात्मा स एव शून्यप्रजेशाद्यात्मना स्फुरति प्रथते । हि यस्मात् सः प्रजेशः आतिवाहिकतनुः मनोमयशरीरः न पाञ्चभौतिकः । तेन सत्संकल्पमात्ररूपत्वेन । भूम्यादि न सद् अस्ति । यथा न जातं अनुत्पन्नं शशशृङ्गादि नास्ति, तद्वदित्यर्थः । तदित्थं यथा न जातं न चास्ते तथोपवर्णितमिति शेषः ॥११०॥

(इति स्वयंभूत्पत्तिदर्शनम्)

इत ऊर्ध्वमनश्वरमपि ब्रह्म लीलायितनिदर्शनेनाचरतां लम्भितं सद् दशकण्ठाख्यानमाससाद ॥१११॥

इत ऊर्ध्वमिति । अनन्तरमपि अनाख्येयमपि 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इत्यादि श्रुतिसंवादात् । लीलायितनिदर्शनेन स्वोन्मीलितसर्गाद्यनन्तप्रपञ्चजातेन अन्तरतां लम्भितं 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते' इति नीत्या वाग्रूपतां प्रतिपद्य दशकण्ठावसानम् दशकण्ठपदमत्र श्लिष्टं द्रष्टव्यम् । दश कण्ठाः कन्धराः यस्य तस्य कर्मज्ञानेन्द्रियरूपस्येन्द्रियवर्गस्य तथा एतन्नाम्ना प्रसिद्धस्य रावणस्य च अवसानं विरामम् आससाद प्रापेत्यर्थः ॥१११॥

गृहे गृहे रामचरित्रचर्चा
तज्ज्ञानचर्या तु निवेदितैव ॥
न चाधुना काव्यरसावकाश-
स्ततोऽत्र मौनव्रतमाचरामः ॥११२॥

गृहे गृहे इति । रामचरित्रचर्चेत्यनेन 'रामादिवत् प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्' इति शास्त्रशिष्टसंमतः कर्तव्यमार्ग उन्मीलितः । ज्ञानचर्या—

'येन प्रबुद्धभावेन भुञ्जानो विषयान् स्वयम् ।
न याति पाशवं भावं ज्ञानचन्द्रः स कीर्तितः ॥'

तथा— 'सर्वं जगत् स्वदेहं वा स्वानन्दभरितं स्मरेत् ।
युगपत् स्वामृतेनैव परानन्दमयो भवेत् ॥'

'सर्वो ममायं विभव इत्येवं परिजानतः ।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता ॥'

इत्येवंरूपा ॥११२॥

लोकानां मातापितृभ्यां परस्मै
तस्मै भूम्ने भूरिशो मे नमस्याः ॥
मर्यादानां दुष्कराणां स्थलीं यं
सीतादारं राम इत्याहुरेकम् ॥११३॥

लोकानामिति । सीतादारम्—सीता दाराः यस्य सः तम् ॥११३॥

विदन् द्विजाग्र्यो हि मुनित्वमीयात्
तद्ग्राहुजन्मा जनकत्वमीयात् ॥

वणिक् तुलाधारसमत्वमीयाज्
जनश्च शूद्रोऽपि च मुक्तिमीयात् ॥११४॥

तात श्रीसरयूप्रसादचरणस्वर्वृक्षसेवापरो
मातृश्रीहरदेव्यपारकरुणापीयूषपूर्णान्तरः ॥
साकेतापरभागबद्धवसतिदुर्गाप्रसादः सुधी-
रास्ते तेन कृतेऽत्र रामचरिते गुच्छस्तुरीयोऽभवत् ॥११५॥

इति श्रीमति रामचरिते वासिष्ठनिर्यासे वेदान्तरहस्यं नाम तृतीयो गुच्छः ।

* आदितश्चतुर्थः *

कृतिरियं श्रीमदयोध्यापरप्रान्तवर्तिपण्डितपुरीवास्तव्यद्विवेदोपाख्याचार्य श्री सरयूप्रसादपादपद्मोपजीवनः श्रीदुर्गाप्रसादस्येति शिवम् ।

परिशिष्टम्

श्लोकानुक्रमणिका

* आद्योऽङ्को गुच्छकसंख्यामपरश्च श्लोकसंख्यां सूचयति ।

फ

ब

भ

* * *